तरंगिणी

शुचिव्रत

तरंगिणी की कुंजी

(टीकाकार—श्री विश्वंभरनाथ 'मानव' एम-ए. प्रो० गोकुलदास हिन्दू गर्ल्स कालिज, मुरादाबाद)

अनुभवी लेखक ने इसमें सब कविताओं के सामान्य अर्थ के साथ साथ टिप्पणी और भावार्थ देकर अध्यात्म पक्ष खोलकर और रचनाओं से संबंधित विभिन्नवादों की व्याख्या कर कविताओं के सौंदर्य को मथ कर रख दिया है, जिससे इस कुंजी की सहायता से हर एक विद्यार्थी तरंगिणी को अच्छी तरह समझ सकता है। मूल्य १॥)

हिन्दी-भवन, लाहौर

तरंगिणी

संपादक

शुचिव्रत लक्ष्मणपाल

शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.,

डी. ए. वी. कालिज, लाहौर

प्रकाशक

हिंदी-भवन, लाहौर

सूची

Printed and published by D. C. Narang
at the H. B. Press, Lahore.

कुछ शब्द

कविता क्या है ?

अपना सुख-दुख, आनंद-वेदना संसार के अन्य प्राणियों को सुनाना केवल मानव का ही नहीं प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है, यहाँ तक कि जड़ पदार्थ भी जैसे नीरव भाषा में अंतर की अनुभूति हमें सुनाते रहते हैं। यह आत्म-प्रकाशन की इच्छा ही तो साहित्य और विशेष रूप से कविता की उत्पत्ति का कारण है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने कविता की क्या परिभाषा की है, इसे देखने की मैं आवश्यकता नहीं समझता, मैं यहाँ आधुनिक कवियों के कविता के विषय में क्या उद्‌गार उच्छ्‌वसित हुए हैं उन पर एक दृष्टि डाल लेना उचित समझता हूँ। श्री सुमित्रा नंदन पंत ने एक स्थान पर लिखा है—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।

किसी वियोगी हृदय की आह ही सब से पहले कविता के रूप में प्रकट हो पड़ी होगी। इसी तरह श्री रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है—

जलकर चीख उठा वह कवि था।

जैसे कोई मनुष्य किसी ज्वाला से जलता है तो दर्द से चीख उठता है, वैसे ही संसार की ज्वाला में जलकर जब मानव हृदय तड़प उठता है तो अपनी चीख को कविता के रूप में व्यक्त कर देता है। कविता तो बरबस निकलती है। जब हृदय का दर्द दबाए नहीं दबता तो कविता बह पड़ती है।

बच्चन ने लिखा है

मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना,
मैं फूट पड़ा तुम कहते छंद बनाना।

यह रोना ही—कवि के हृदय का दर्द ही—काव्य का प्राण है। इसी दर्द का नाम अनुभूति है।

दर्द और वेदना जैसे शब्द कवि के जगत् में कुछ व्यापक अर्थ रखते हैं। सुख के भी आँसू होते हैं और दुःख के भी। अनुकूल वेदना भी होती है, प्रतिकूल वेदना भी, सुख की अनुभूति भी वेदना है और दुःख की भी। कवि के हृदय में जो आनंद की लहर उठती है, जो दुःख की टीस उठती है, वह सब कुछ वेदना है। इसलिए जब जब हम कहते हैं कि कवि की अंतर्वेदना का व्यक्त करना ही काव्य-रचना है तो इसका अर्थ केवल दुःख-भरे गीतों को व्यक्त करना नहीं। दुःख के उच्छ्‌वास और सुख के पुलक दोनों ही को कवि प्रकट करता है। इसलिए साहित्य में हँसा देने वाली और रुला देने वाली, दोनों ही प्रकार की, कृतियाँ मिलती हैं। कवि की भाषा में तो रोना भी आनन्द है और हँसना तो है ही। किसी अनुभूति में लीन होना, चाहे वह सुख की हो चाहे दुःख की, 'आनन्द' लेना है। कवि के दुःखभरे उच्छ्‌वास और सुख-भरे गीत दोनों ही संसार का मनो-रंजन करते आए हैं—अर्थात् आनन्द देते आए हैं और देते रहेंगे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति का अंतर की वेदना को छंदों में, गीतों में, व्यक्त करना ही कविता है। किंतु, कविता की यह परिभाषा अधूरी है। कवि का व्यक्तित्व साधारण प्राणियों से बहुत ऊँचा, विस्तृत और उदार होता है। अखिल विश्व के सुख-दुःख उसके हृदय में अपने बनकर प्रवेश करते हैं। वह अपनी वेदना से इतना बेचैन नहीं होता जितना कि दूसरे के दुःखों को देखकर। सड़क पर पड़ी हुई मुरझाई कली को संसार कुचल सकता है, किंतु, कवि उसमें

अपने जीवन का अस्तित्व देखता है, वह रो पड़ता है। कविता लिखने लगता है। प्रकृति के कण-कण में वह अपने आपको पाता है। इस लिए जहाँ हम कहते हैं कि अंतर्वेदना का व्यक्तीकरण ही कविता है, वहाँ हमारा तात्पर्य अपनी और बाह्य-जगत् की, वेदना को व्यक्त करने से है। पाठकों की सुविधा के लिए हम परिभाषा को इस प्रकार बदल भी सकते हैं—

"अपने अंतर की तथा बाह्य जगत् की वेदना अर्थात् सुख दुःख की अनुभूति का गान ही कविता है।"

कवि 'विश्व-सुंदरी' का घूँघट खोलकर उसका सौंदर्य भावुक-हृदयों को दिखाता है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' की नीचे दी हुई रचना से यह भाव अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। कहते हैं—

खोल दे संसृति घूँघट आज
भला कवि है किसको लाज ?

अरे भर गहरा पारावार
अतल में रक्खे रत्न अपार,
सीपियों के भीतर चुप-चाप
छिपा रक्खे मोती सुकुमार।

सजा दूँ मानव मन का ताज।
तुम्हारे इस वैभव से आज!
पास आ जाओ ओ आकाश!
दूर कवि से है किसका वास ?

नील अंबर का तान-वितान
जड़ रक्खे तारक-रत्न महान्।
नहीं जा सकते जिन तक कभी
विकल विहगों के भी तो प्राण!

गूँथ कर इनके हार सहास,
जगत् को पहना दूँ सोल्लास!
खोल दो वसुधा हृदय-अजान
छिपे हैं कवि से किसके प्राण।

बनाकर हृदय कठोर सयत्न
छिपा रक्खे हैं हीरक-रत्न।
कर रहा है जग का विज्ञान
जिन्हें पाने का विपुल प्रयत्न।

प्राप्त कर आज खान की खान,
जगत् को दे दूँगा मैं दान!
सेतु बन जाओ मुझको नीर,
दूर कवि से है किसका तीर?

अरे भर इतना गहरा ताल,
मध्य में मुकुलित कमल सनाल
लगा रक्खा, जिसको संसार
प्राप्त करने, रहता बेहाल।

बहा सौरभ, बन मलय-समीर
तृप्त कर दूँ जग-हृदय-अधीर।

कवि तो जगत् के मनोभावों के रत्न, तारक, हीरे, मोती और कमलों को अपने अंतर के रस से स्निग्ध, मधुर, उज्ज्वल और आकर्षक बनाकर संसार के सामने लाता है, यही उसकी कला है। वह अपने व्यक्तित्व को आकाश के सदृश सारे विश्व पर छाया हुआ पाता है और अखिल विश्व की अंतर्वेदना कवि की अपनी वेदना होती है।

हिंदी कविता का विकास

वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि प्रत्येक भाषा के साहित्य में पहले कविता अंकुरित हुई है बाद में गद्य। हमारी हिंदी भाषा का तो सारा प्राचीन साहित्य पद्य में है। गद्य तो वास्तव में देखा जावे तो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के युग में कुछ कुछ तुतला कर बोलने लगा था, किंतु पद्य चंदबरदाई के युग से पहले भी जवान था। चंदबरदाई के रासो में उस समय का समाज अपने सच्चे रूप में अंकित है। कवि ने अपने आस-पास के विश्व को अपने अंतर के रंग में रँग कर पुस्तक पर अंकित कर दिया है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि अंतर्जगत् और बाह्यजगत् की वेदना का व्यक्तीकरण ही काव्य है। मनोभावों पर प्रकृति-सौंदर्य का, देश का, समाज का, और राजनीतिक उलट-फेरों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियों के साथ कविता की भाषा, विषय और उद्देश्य बदलते जाते हैं। यही बात हिंदी के काव्य-साहित्य पर घटित हुई है। प्रारंभ में जब कि देश 'क्षत्रियत्व' में मत्त था, 'वीर गाथाएँ' लिखना ही कवियों का जीवन-धर्म बना रहा। उससे उन्हें धन भी मिला और यश भी। राज-सभाओं में पलने वाले कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा को राजाओं के गुण गाने के लिए बेच दिया।

धीरे-धीरे देश का शासनाधिकार मुसलमानों के हाथ में जाकर स्थिर हो गया। देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्म-समर्पण कर दिया। साथ ही विजेता मुसलमान विजित जाति में अपने धर्म का प्रचार भी करने लगे। इस राजनीतिक तथा धार्मिक परिवर्तन ने देश के साहित्य की धारा को भी बदल दिया। हताश और आतंकित जनता प्रभु का आश्रय ढूँढने लगी। मुसलमानों के संपर्क में आने के कारण पहले साहित्य में निर्गुण और निराकार की उपासना बढ़ी।

ज्ञानाश्रयी संत कवि तथा प्रेम-मार्गी सूफी कवि उसी हलचल के प्रतीक हैं। पर शीघ्र ही मुसलमानों की निराकारोपासना के आक्रमण से सनातन हिंदू धर्म को बचाने के लिए प्राचीन लोक-धर्माश्रित स्वरूप को लेकर सगुण भक्ति का प्रवाह बहा और तत्कालीन साहित्य में भी निर्गुण-पंथियों के स्थान पर साकारोपासना करने वाले वैष्णवों के साहित्य का आदर होने लगा। धीरे-धीरे मुसलमान शासकों के पक्की तरह जम जाने पर और उनके धार्मिक जोश और प्रतिद्वंद्विता के ठंडा हो जाने पर शासकों और जनता, दोनों में विलासप्रवृत्ति बढ़ी। उसके साथ ही साहित्य में भी शृंगार रस की बाढ़ सी आगई। कलुषित प्रेम की शत-सहस्र उद्भावनाएँ की जाने लगीं। नायक-नायिकाओं के हाव-भाव तथा नखशिख-वर्णन में ही कवि अपना समय बिताने लगे। इस बीच में जैसे देश के वायुमंडल को शिवाजी तथा छत्रसाल जैसे वीर आंदोलित कर उठते हैं, वैसे ही उनके समीपवर्त्ती कवि भूषण और सूदन आदि उस राजनीतिक या धार्मिक जाग्रति को व्यक्त कर देते हैं। अंग्रेजों के आगमन के बाद देश में कुछ बाहरी शांति स्थापित हुई और ईसाइयों के धर्म-प्रचार से कुछ धार्मिक जाग्रति पैदा हुई। तत्कालीन साहित्य में अंग्रेजों की महिमा गाई जाने लगी और धार्मिक शास्त्रार्थ संबंधी साहित्य की रचना प्रारंभ हुई। अंग्रेजों के संसर्ग से ही हिंदी-साहित्य की सदियों से चली आती पद्यात्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने ले लिया और एक ही शताब्दी में हिंदी गद्य का रूप परिष्कृत हो गया।

ज्यों-ज्यों देश की स्थिति बदली है, कवियों की मनोदिशा बदलती रही है। देश न केवल दास हुआ, बल्कि यहाँ का रुपया बाहर बहने लगा। सर्व-साधारण भूख से तड़प उठा—स्वाभाविक कुरीतियों से कराह उठा। कवि को इन बातों की अनुभूति न होती यह कैसे संभव था।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के युग से काव्य-साहित्य ने रंग बदला, और इस संग्रह में दी हुई 'भारत-दुर्दशा' जैसी रचनाएँ लिखी जाने लगीं। भाषा भी बदली। ब्रज, तो भी, एक सीमित से साहित्यिक समुदाय की भाषा रही। अब कवि ने जनता के हृदय को प्रतिध्वनित करना प्रारंभ किया तो उसने खड़ी बोली को अपनाया। प्रारंभ में अपरिष्कृत असंस्कृत खड़ी बोली में लिखने के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे प्रतिभाशाली कवि भी इस भाषा में उत्कृष्ट काव्य-रचना न कर सके। हम प्रयत्न करके भी खड़ी बोली के प्रारंभिक काल के कवियों की ऐसी रचनाएँ न पा सके जो आधुनिक काल की रचनाओं के साथ रख सकते इसलिए इस संग्रह में बाबू हरिश्चन्द्र, रायदेवीप्रसाद पूर्ण और श्रीधर पाठक की कुछ कविताएँ देकर संतोष कर लिया है।

इस युग में जो भारतेंदु से प्रारंभ होकर बाबू मैथिली शरण तक रहा, भावनाओं, छंदों और भाषा में क्रांति हुई। वे पुराने शृंगारी कवित्त और सवैये भाग खड़े हुए। उनके स्थान पर देश और समाज की परिस्थिति की ओर कवि की दृष्टि गई।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोलो का चोला ही बदल दिया। उसे अधिक परिष्कृत, संस्कृत, बना दिया उसमें ओज के साथ माधुर्य भी भरा। इस युग में राष्ट्रीय-धारा प्रस्फुटित हुई। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी जैसे राष्ट्रीय कवि पैदा हुए। इनकी वाणी में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व है। और भी सैंकड़ों कवियों के हृदयों में जन्मभूमि का शंख-नाद हो उठा।

इसी युग में प्राचीन कवियों की भाँति अंतर्मुखी प्रवृत्ति रखने वाले, या बाह्य जगत् को आत्मसात् करके उसकी वेदना को आत्मानुभूति की भाँति व्यक्त करने वाले बाबू जयशंकरप्रसाद, निराला, पंत, महादेवी और मिलिंद जैसे महान कलाकार भी पैदा हुए। इन्होंने चिरंतन भावनाओं को आकार दिया—ऐसी भावनाओं को जो प्रत्येक

काल के लिए सत्य, शिव और सुंदर हैं। इस प्रकार की रचनाएँ छायावादी कहलाईं।

इस छायावादी धारा के बाद भी एक और तीव्र प्रवाह हिंदी कविता में आ रहा है, वह क्रांतिवादी धारा का है। संसार, विशेष रूप से भारतवर्ष आज असह्य दुःखों के बोझ से दबा हुआ है। उसका हृदय भीतर ही भीतर विद्रोह की आँधी का अनुभव कर रहा है। यही आँधी नवीन कवियों की अनेक रचनाओं में व्यक्त हुई। नवीनजी का 'विप्लव-गायन', मिलिंदजी की 'मेरे कुमार, मेरे किशोर' तथा अन्य नवीनतम कविताएँ और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' की 'अग्नि-गान' आदि कविताएँ अंतर् की भयंकर जलन की उत्पत्तियाँ हैं।

इन धाराओं के अतिरिक्त ऐसी भी रचनाएँ हैं जो इनमें से किसी में भी नहीं आती। कुछ तो प्रकृति-सौंदर्य-सम्बन्धी हैं, कुछ हृदय की कोमल भावनाओं के उच्छ्वास हैं, जिन्हें हम हृदय-वादी रचनाएँ कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त बच्चन जैसे कुछ कवि हैं, जिन्होंने पहले तो उमरखय्याम की मदिरा पी, तदनंतर उसे भारत की संस्कृति के प्याले में ढालकर नए रूप में पेश किया। यह हालावाद 'प्रकृति' की मदिरा का उपयोग करके 'उसपार' के जगत से आँखें फेर कर रहना चाहता है। वह प्रकृति को परम सत्य मानता है और 'वर्तमान' को ही संपूर्ण कला। प्रकृति सुंदरी साक़ी है—प्रेम की मदिरा वह पिलाती है। वेदना ही उसका नशा है। जब तक जीना है प्रकृति के उपासक के लिए साक़ी के हाथों से मदिरा ढालते जाना जीवन की चरम साधना है।

उसे 'उस पार' पर विश्वास नहीं है। बच्चन ने लिखा है—

इस पार, प्रिये, मधु है तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा!

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,
कल मुर्झाने वाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं मग्न रहो,
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
संदेश सुनाती यौवन का
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा ?

उस असंदिग्ध, अज्ञात लोक की प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या करने के पक्ष में यह संप्रदाय नहीं है।

इस तरह आधुनिक कविगण हिंदी-कविता-साहित्य में विविध विषय, भावनाएँ और विविध दार्शनिक तत्त्वों का समावेश कर रहे हैं। हमारे इस संग्रह में सभी तरह की रचनाओं को स्थान दिया गया है !

कविता में विविधता

एक ही काल की कविता में अपितु एक ही कवि की कविता में कभी-कभी बड़ा वैषम्य पाया जाता है। इसका कारण यह है कि एक ही काल में, एक ही देश में सुखी, दुखी, आशावादी, छायावादी और हालावादी सभी प्रकार की मनोवृत्ति वाले हृदय होते हैं, इसलिए साहित्य में विविधता होना शुभ चिह्न है। संपूर्ण साहित्य संपूर्ण देश के हृदय का चित्र बन जाता है। एक ही कवि कभी एक सिद्धांत का

पोषक दिखाई देता है, कभी ठीक उससे विपरीत का। वास्तविक बात तो यह है कि कविता तो एक समय की एक अनुभूति का उच्छ्वास है; वह सत्य का अन्वेषण नहीं है। जिस समय कवि जैसा अनुभव करता है लिख देता है। कभी वह दुःख के गीत गाता है, कभी सुख के। यहाँ हम दो-एक उद्धरण देकर बताते हैं कि कवि के जीवन में उलट-फेर होने के साथ उसकी भावनाएँ कैसा रंग बदलती हैं।

पंत जी ने जब कविता लिखना प्रारंभ ही किया था, उस समय वे कितने व्यथित जान पड़ते थे—वे लिखते हैं—

आह, यह मेरा गीला-गान !
वर्ण वर्ण है उर की कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,
चरण-चरण है आह,
कथा है कण-कण करुण अथाह,
बूँद में है वाड़व का दाह।

इसी कविता में वे आगे लिखते हैं

कल्पना में है कसकती-वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य-आहों में सुरीले छंद हैं
× × ×
वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान !

उनकी अंतर्वेदना इतनी बढ़ती है कि उन्हें संपूर्ण प्रकृति जलती हुई और जलाती हुई जान पड़ती। वे लिखते हैं—

धधकती है जलदों से ज्वाल
बनगया नीलम-व्योम प्रवाल;

आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल !

(पल्लव)

कैसी तीखी वेदना है कवि के जीवन में ! कितना वह बेचैन है ! कवि समझता है रोते रहना ही मानो विश्व का धर्म है। वह कहता है—

सिसकते हैं समुद्र-से मन
उमड़ते हैं नभ से लोचन,
विश्व-वाणी ही है क्रंदन,
विश्व का काव्य अश्रु-कण !
गगन के भी उर में है घाव,
देखतीं ताराएँ भी राह !

(पल्लव)

किंतु इसी पीड़ा के रंग को ही सारे विश्व में देखने वाला जीवन को अधिक दार्शनिक दृष्टि से देखने लगता है। वह दुःख और सुख दोनों का स्वागत करता है। उसकी बेचैनी कम हो जातो है। वह लिखता है—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन,
जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे,
दुख-सुख से औ सुख-दुख से !
अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,

सुख-दुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग जीवन।
(गुंजन)

इस तरह कवि की मनोदशा बदलती रहती है और उसकी कविता पर उसका प्रभाव पड़ता है। हमारे हिंदी साहित्य में—विशेष रूप से कविताओं में—निराशावाद और करुण भावनाओं का ज्वार उठता देख कर विद्वानों को अमंगल का भय हो उठा था, किंतु इस में भय की कोई बात नहीं। ये सभी कवि—पंत, नवीन, महादेवी, प्रेमी—जो साहित्य-मंदिर में पहले माला आँसुओं की बना कर लाए थे आज दुख को भी सुख बनाकर हँस रहे हैं। उनकी कविताओं में बेचैनी के स्थान पर संतोष, करुणा के स्थान पर आत्म-विश्वास, और निराशा के स्थान पर आशा दिखाई पड़ रही है।

छायावाद और रहस्यवाद

आधुनिक हिंदी कविता में छायावाद और रहस्यवाद शब्दों की बड़ी चर्चा है। इन शब्दों का क्या तात्पर्य्य है, यह जानना आवश्यक है। हिंदी के नवीन कवि आजकल जो भावना और अनुभूति-प्रधान रचनाएँ लिख रहे हैं, उन सब को छायावादी रचनाएँ कहा जा रहा है, पर क्या वास्तव में ऐसा कहना उचित है।

छायावाद क्या है ? अनेक आधुनिक कवि सीमित वस्तुओं में असीम की अनुभूति करने को छायावाद कहते हैं। वे कविताएँ, जिनमें प्रकृति के उपकरणों में 'विराट' की झाँकी दिखाई जाती है, छायावादी हैं, ऐसा उनका मत है। इस परिभाषा की कसौटी पर कसी जाने पर आधुनिक कवियों की कविताओं में बहुत थोड़ी ऐसी मिलेंगी जिन्हें छायावादी कहा जा सके। इस लिए यह परिभाषा संकुचित और अपूर्ण जान पड़ती है। कुछ लोगों के मत में प्राकृतिक वस्तुओं में एक-

मानवता अनुभव करना और इसी अनुभूति को कविता में व्यक्त करना छायावाद है। छायावादी कवि ज़ड़-प्रकृति में भी उसी चेतन का दर्शन करता है जिस चेतन ने उसको भी जीवन दिया है।

उदाहरण के लिए श्री सुमित्रानन्दन पंत की 'छाया' कविता को लीजिए। उन्होंने 'छाया' को चेतनामय वस्तु के रूप में सम्बोधन किया है और अंत में वे कहते हैं—

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल, हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान

यहाँ छाया के साथ कवि ने कितनी आत्मीयता प्रदर्शित की है। इन पंक्तियों से पहले भी पंत जी लिखते हैं—

हे सखि, इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर।
चूर्ण-शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन।
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा कर कर मद-हीन !

इन पंक्तियों में कवि 'छाया' में मानवीय भावनाओं का आरोप करता है। उसमें अपने अस्तित्व को लीन करना चाहता है—उससे कुछ सीखना चाहता है।

वर्तमान छायावादी कवियों की रचनाओं को पढ़कर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिन कविताओं में कवि प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप करके उसके साथ अपनी आत्मीयता व्यक्त करता है वे

छायावादी रचनाएँ होती हैं। यदि यह कहा जाय, जैसा कि रहस्यवादी कहते रहे हैं कि आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा असीम अनन्त है, तब तो पहले वाली परिभाषा भी—ससीम के घूँघट में असीम के दर्शन करने की प्रवृत्ति भी छायावाद है—किसी अंश में सत्य है। प्रकृति से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करना, और ससीम में असीम के दर्शन करना एक ही बात है।

महादेवी वर्मा की निम्नलिखित कविता छायावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है—

प्रिय! सांध्य गगन,
मेरा जीवन!
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन!
साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन,
यह अश्रुमती हँसती चितवन
लाता भर श्वासों का समीर,
जग से स्मृतियों का गंध धीर,
सुरभित है जीवन-मृत्यु-तीर,
रोमों में पुलकित कैरव-वन!

संध्या के साथ महादेवी जी ने एकरूपता का अनुभव किया है। यही एकरूपता अनुभव करना छायावाद है।

छायावाद से भी ऊँची भावना है रहस्यवाद की। जब कवि अनंत के साथ अपने संबन्ध का अनुभव करता है और उस अनुभूति को

छंदों—गानों—में व्यक्त करता है तो ऐसी रचनाएँ रहस्यवादी कहलाती हैं। रहस्यवादी कवि अनन्त के साथ अपने तरह तरह के सम्बन्धों की कल्पना करता है, उस के विरह की व्यथा, या मिलन के आनन्द को कविता में लिखता रहता है।

रहस्यवाद के तीन दर्जे होते हैं। पहला वह जब कि कवि हृदय में एक बेचैनी सी अनुभव करता है, जब उसे इस जगत् के प्रति विराग-सा उत्पन्न होता है, उसे ऐसा जान पड़ता है जैसे उसका कुछ खो गया है, एक अभाव का वह अनुभव करता है। श्री हरिकृष्ण प्रेमी के रहस्यवादी काव्य 'अनंत के पथ पर' के प्रारंभिक पृष्ठों में इस बेचैनी का बहुत सुन्दर वर्णन है। हम कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करते हैं—

नभ के पर्दे के पीछे
करता है कौन इशारे ?
सहसा किसने जीवन के
खोले हैं बन्धन सारे ?
जग के सुख-दुख से मेरा
अब टूट चुका है नाता,
पर, समझ नहीं पाई हूँ
है मुझको कौन बुलाता ?
किसका अभाव मानस में
सहसा शशि-सा आ चमका ?
है क्या रहस्य बतला दे
कोई इस अंततम का ?
इन सरल-तरल नयनों में
किसकी उज्ज्वल छवि छाई ?

किसने मेरे प्राणों में
अपनी तसवीर बनाई ?
जलजात हृदय को मेरे
कोई 'अज्ञात' खिलाता।
मेरे जीवन के रवि का
कुछ पता नहीं मिल पाता।

रहस्यवाद की दूसरी स्थिति वह होती है जब यह पता चल जाता है कि इस बेचैनी का कारण उस 'अनंत' से आत्मा का वियोग है। आत्मा और परमात्मा के मिलन-मार्ग में, 'माया' ने खाई खोद रखी है। साधक इस माया को नष्ट करने का उद्योग करता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ की निम्नलिखित कविता में इस मनोदशा का सुन्दर वर्णन हुआ है। वे लिखते हैं—

मन के, आमार काया के,
आमि एकबारे मिलिये दिते
चाइ, ए कालो छाया के।
ए आगुने ज्वलिये दिते,
ए सागरे तलिए दिते,
ए चरणे गलिए दिते,
दलिए दिते माया के,
मन के आमार काया के।

जेखाने आई सेथाई एके
आसन जुड़े बसते देखे
लाज़े मरि, लओगो हरि,
एइ सुनिबिड़ छाया के।
मन के आमार काया के।

तुमि आमार अनुभावे
कोथाओ नाहि बाधा पावे,
पूर्ण एका देबे देखा,
सरिये दिये माया के
मन के आमार काया के ॥

"मैं अपने मन को, अपनी काया को और इस काली छाया को एक दम मिटा देता हूँ। अपने मन और शरीर को आग में जला देना चाहता हूँ, साथ ही इस माया को कुचल डालना चाहता हूँ। मैं जहां जाता हूँ वहीं इन्हें आसन लगा कर बैठे हुए देख कर लाज से मर जाता हूँ। ए हरि, इस प्रगाढ़ छाया, मेरे शरीर को तुम लो। मेरी शक्ति से तुम्हें कहीं भी बाधा न पड़ेगी। मेरी माया को हटा कर तुम मेरे शरीर को एकान्त में अपना पूर्ण दर्शन दो"

कवि अपने शरीर के अस्तित्व को भी प्रियतम-मिलन में बाधक समझता है।

रहस्यवाद की तीसरी कोटि है वह, जब माया का आवरण दूर हो जाता है और परमात्मा और आत्मा का मिलन हो जाता है। दोनों में एकरूपता स्थापित होती है। प्रेमी जी की 'अनंत के पथ पर' पुस्तक की वे पंक्तियाँ इस स्थिति का चित्र खींचती हैं—

इन बाह्य चक्षुओं में तो
जल प्लावन सा है आया,
खुल गए नयन अन्तर के
अब उसने रूप दिखाया।
बुझ गए सूर्य, शशि, तारे,
हट गए सिंधु भू अम्बर।
रुक गई यहाँ पर नौका,
मिट गया यहीं पर अन्तर !
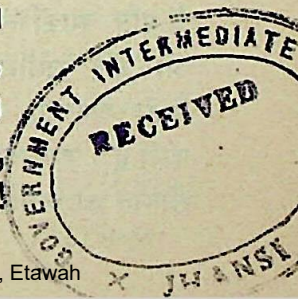
युग-युग से जो 'तरणी' ले
मैं उसे खोजने आती ।
मिल गई उसी में उसकी
प्रिय मूर्ति मधुर मुसकाती ।
जीवन का जीवन बनकर
वह साँस साँस की बनकर
है साथ-साथ ही रहता
चितवन की चितवन बनकर ।
अपना ही पथ तो मुझको
बन गया अनन्त अगम था ।
मैं समझ नहीं पाई थी—
मुझ में मेरा प्रियतम था ।

माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा की एक-रूपता का ज्ञान होता है । साधक संसार के सुख-दुःख की सीमा के पार पहुँच कर परमानन्द में लीन हो जाता है । यही रहस्यवाद की अंतिम सीमा है ।

छायावाद में कवि सीमित वस्तुओं में असीम के या अपनी आत्मा के दर्शन करता है, और रहस्यवाद में असीम के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति करता है । निस्संदेह रहस्यवाद छायावाद के बाद की स्थिति है, और अधिक मंगलमयी है । ससीम वस्तुओं में यदि असीम की झलक देखकर हृदय असीम के प्रति आकर्षित हो तब तो यह छायावादी प्रवृत्ति शुभ है और यदि ससीम वस्तुओं को असीम समझ कर मन को उन में ही अटकाए रखा जाय तो यह प्रवृत्ति बहुत ही अमंगल-कारी है । 'हालावाद' इसी प्रवृत्ति का एक रूप जान पड़ता है । सीमित को असीम मान कर उसके पीछे दौड़ते रहने से केवल

भीषण बेचैनी, अशांति और वेदना ही हाथ लगती है। उस वेदना की पूँजी को छंदों में भर कर तरह तरह के रंग-रूप देकर संसार के सामने लाया जा सकता है पर उससे वे ही मुग्ध होते हैं, जिनकी आत्मा और हृदय का धरातल अधिक ऊँचा नहीं होता। लोक-प्रिय कवि बनने के लिए ऐसी रचनाएँ उपयोगी हो सकती हैं—पर लोक-प्रिय कवि उत्तम कवि भी होता है, ऐसा मानना भ्रम से खाली नहीं है। हमारे कई नवयुवक हिंदी कवि मूर्ति को ही अमूर्त समझकर दीवाने हो उठे हैं—असंयम की एक लहर सी वे प्रवाहित करते दिखाई देते हैं; यह शुभ चिह्न नहीं है।

कला की दृष्टि से वर्तमान हिंदी कविता पर्याप्त ऊँची उठ रही है। भाषा परिमार्जित और कोमल होती जा रही है। नवीन-नवीन भावनाएँ भरी जा रही हैं। संसार की किसी भी भाषा में हिंदी की कविताएँ अनुवादित होकर लज्जित न होंगी।

आजकल हिंदी में गीत लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। श्री महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, निराला, 'बच्चन' आदि ने सुन्दर गीत लिखे हैं। संगीत और काव्य का यह सम्मिलन कविता को लोक-प्रिय बनाने में सहायक होगा इसमें संदेह नहीं। बंगाल में रवि बाबू के गान घर घर में गाए जाते हैं। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब हमारे हिंदी-भाषी घरों में हिंदी के प्रसिद्ध कवियों के मानपूर्ण गीत गाए जाएँगे। हमने इस संग्रह में कुछ गीत भी देने का प्रयत्न किया है।

हमने प्रयत्न किया है कि इस संग्रह में आधुनिक हिंदी कविता की सभी प्रवृत्तियों की रचनाएँ दें। संग्रह करते समय सुरुचि की ओर विशेष ध्यान रखा है, इसी कारण शृंगार रस की कविताएँ हम नहीं दे सके; फिर भी इस बात का प्रयत्न किया है कि संग्रह रूखा न बन जाय।

हमारा यह प्रयत्न सफल हुआ है या असफल यह तो पाठकों के निर्णय का विषय है। —सम्पादक

भारतेंदु हरिश्चंद्र

[जन्म संवत् १९०७—मृत्यु संवत् १९४२]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कीर्ति-कौमुदी से हिंदी-जगत् जगमगा रहा है। इस प्रतिभाशाली कवि का जन्म बंगाल के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में हुआ था।

इनके पिता श्री गोपालचन्द्र न केवल प्रसिद्ध रईस ही थे बल्कि सुकवि भी थे। अतुल-संपत्ति के साथ साथ बाबू हरिश्चन्द्र को कवित्व भी विरासत में ही मिली थी।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र ने किया, ऐसा माना जाता है। उसका कारण यह है कि इन्होंने हिन्दी-साहित्य को शताब्दियों से सड़ी हुई रीतिकाल की गंदी गली से निकाल कर शुद्ध तथा जीवन-प्रद वायु में विचरण करने का पथ-प्रदर्शन कर हमारे जीवन और साहित्य के बीच में जो विच्छेद पड़ रहा था उसे दूर किया। सैकड़ों बरसों से नायिकाओं के नखशिख-वर्णन पर फ़िदा होने वाले कवियों को अपनी देश-प्रेममयी कविता द्वारा मुक्तकेशिनी, शुभ्र-वसना, परवशगता भारत माता की करुणोज्ज्वल छवि के दर्शन करा कर उन्हें नये पथ पर चलने का आदेश दिया। साथ ही प्रकृति-वर्णन स्वदेश-प्रेम, इतिहास आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर तथा हास्य, वीर, बीभत्स और करुण आदि अनेक रसों में अनूठी कविता कर दूसरे को भी नये भावों और नये विषयों पर कविता लिखने को प्रवृत्त किया।

इन्होंने न केवल साहित्य की सृष्टि की, बल्कि हिंदी-साहित्य को प्रचारित करने में भी बड़ा उद्योग किया। समय-समय पर पत्रिकाएँ

निकाल कर, सभाएँ स्थापित करके तथा साहित्य-सेवियों को आर्थिक सहायता देकर ये हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि का निरंतर प्रयत्न करते रहे। इसीलिए तो ये नवीन हिन्दी साहित्य के जन्मदाता समझे जाते हैं।

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने काव्य, स्तोत्र, परिहास, ऐतिहासिक ग्रंथ, नाटक, उपन्यास और आख्यायिकाएँ आदि सभी कुछ लिखा है। ब्रज, खड़ी बोली, संस्कृत, बँगला, गुजराती और पंजाबी आदि अनेक भाषाओं में इन्होंने कविताएँ लिखी हैं, जो बहुत सरल तथा हृदयग्राही हैं। छंदों में भी इन्होंने क्रांति की है। हिन्दी के प्राचीन छंदों के अतिरिक्त इन्होंने नए छंदों में भी कविताएँ लिखी हैं। इस संग्रह में इनकी प्रात-समीरन रचना इसका नमूना है। यह बँगला का पयार छंद है।

करुणा-सरिता

हरि-तन करुना-सरिता बाढ़ी।
दुखी देखि निज जन बिनु साधन उमगि चली अति गाढ़ी ॥
तोरि कूल मरजादा के दोउ न्याव-करार गिराए।
जित तित परे करम फल-तरुगन जड़ सों तोरि बहाए ॥
अचल बिरुद गंभीर भँवर गहि महापाप गन बोरे।
असहन पवन बेग अति बेगहि दीन महान हलोरे ॥
भरि दीने जन हृदय-सरोवर तीनहुँ ताप बुझाई।
'हरीचंद' हरि-जस-समुद्र में मिली उमगि हरखाई।

होली

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग, अभाग एक दिसि, होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी ॥
दुंद सखि बहुत बढ़ो री ॥
धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सब को नयन भरो री।
दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब खिलार भिंजयो री ॥
भींजि रहे भूमि लटोरी ॥
भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोइ बसंत प्रगटो री।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री ॥
सिसिर को अंत भयो री ॥
बौराने सब लोग, न सूझत, आम सोइ बौरयो री।
कुहू कहत कोकिल ताही तें महा अँधार छयो री ॥
रूप नहिं काहू लख्यो री ॥

हार्यौ भाग अभाग जीत लखि विजय निसान हयो री।
तब स्वाधीनपनो धन-बुधि-बल फगुआ माहिं लयो री॥
शेष कछु रहि न गयो री।
उठो उठो भैया क्यों हारौ अपुन रूप सुमिरो री।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री॥
दीनता दूर धरो री।
कहाँ गए छत्री किन उनके पुरुषारथहिं हरो री।
चूड़ी पहिरि, स्वाँग बनि आए, धिक धिक सबन कह्यो री॥
भेस यह क्यों पकरो री॥
उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरो री।
विजय-निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री॥
छबीलिन रँगन रँगो री॥
आलस मैं कछु काम न चलिहै सब कछु तो बिनसो री।
कित गयो धन-बल, राज-पाट सब, कोरो नाम बचो री॥
तऊ नहिं सुरत करो री॥
फूँक्यो सब कछु भारत नै कछु हाथ न हाय रहो री।
तब रोअन मिस चैती गाई भली भई यह होरी॥
भलो तेहवार भयो री॥

प्रात-समीरन

मंद मंद आवै देखो, प्रात समीरन
करत सुगंध चारों ओर विकीरन।
गात सिहरात तन लागत सीतल
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल।
नेत्र सीस सीरे होत सुख पावै गात
आवत सुगंध लिए पवन प्रभात।

नाचत आवत पात-पात हिहिनात
तुरग चलत चाल पवन प्रभात।
आवै गुंजरत रस फूलन को लेत
प्रात को पवन भौंर सोभा अति देत।
सौरभ सुमद धारा ऊँचो किए मस्त
गज सो आवत चल्यौ पवन प्रसस्त।
फुलावत हिय-कंज जीवन सुखद
सज्जन सो प्रात पौन सोहै विना मद।
दिसा प्राची लाल करै कुमुदी लजाय
होरी को खिलार सो पवन सुख पाय।
सौरभ को दान देत मुदित करत
दाता बन्यो प्रात-पौन देखो री चलत।
पातन कँपावै लेत पराग खिराज
आवत गुमान भरयौ समीरन-राज।
गावै भौंर गूँजि पात खरक मृदंग
गुनी को अखारो लिए प्रात-पौन संग।
काम में चैतन्य करै देत है जगाय
मित्र उपदेस बन्यो भोर पौन आय।
आप देत थपकी गुलाब चुटकार
बालक खिलावै देखो प्रात की बयार।
जगावत जीव जग करत चैतन्य
प्रान-तत्व सम प्रात आवे धन्य धन्य।
गुटकत पच्छी धुनि उड़े सुख होत
प्रात-पौन आवे बन्यो सुन्दर कपोत।
नव-मुकुलित पद्म पराग के बोझ
भारवाही पौन चलि सकत न सोझ।

छुअत सीतल सबै होत गात आत
स्नेही के परस सम पवन प्रभात।
लिए जात्री फूल-गंध चलै तेज धाय
रेल रेल आवै लखि रेल प्रात-वाय।
बिबिध उपमा धुनि सौरभ को भौन
उड़त अकास कवि-मन किधौं पौन।

अस्थिर जीवन

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार वसेरा है॥
आठ वेर नौबत बज बजकर तुमको याद दिलाती है।
जाग-जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है॥
आँधी चलकर इधर उधर से तुझको यह समझाती है।
चेत चेत ज़िंदगी हवा सी उड़ी तुम्हारी जाती है॥
पत्ते सब हिल-हिल कर पानी हर-हर करके बहता है।
हर के सिवा कौन तू है वे यह परदे में कहता है॥
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनी पर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तू नहिं सुनता है॥

भारत-दुर्दशा

भारत के भुज-बल जग रच्छित ;
भारत-विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत-तेज जगत विस्तारा ;
भारत-भय कंपत संसारा।
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए ;
थर-थर कंपत नृप डरपाए।

जाके जय की उज्जल गाथा ;
गावत सब महि मंगल साथा ।
भारत-किरन जगत उँजियारा ;
भारत-जीव जिअत संसारा ।
भारत बेद, कथा, इतिहासा ;
भारत बेद-प्रथा परकासा ।
फिनिक, मिसिर, सीरीय, युनाना ;
भे पंडित लहि भारत-दाना ।
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा ;
ज्वलित अनल-समान अवनीसा ।
साहस, बल इन सम कोउ नाहीं ;
तबै रह्यौ महिमंडल माहीं ।
कहा करी तकसीर तिहारी ;
रे बिधि, रुष्ट याहि की बारी !
सबै सुखी जग के नर-नारी ;
रे बिधना, भारतहि दुखारी ।
हाय रोम ! तू अति बड़भागी ;
बर्बर तोहि नास्यो जय लागी ।
तोरे कीरति-थंभ अनेकन ;
ढाहे गढ़ बहु करि प्रन टेकन ।
मंदिर महलनि तोरि गिराए ;
सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए ।
कछु न बची तुव भूमि-निसानी ;
सो बरु मेरे मन अति मानी ।
भारत-भाग न जात निहारे ;
थाप्यो पग ता सीस उघारे ।

तोरथो दुर्गन, महल ढहायो;
तिनही मैं निज गेह बनायो।
ते कलंक सब भारत केरे;
ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे।
कासी, प्राग, अजोध्या-नगरी;
दीन-रूप सम ठाढ़ीं सगरी।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई;
रहीं सबै भुव मुँह-मसि लाई।
हाग पंचनद, हा पानीपत;
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी;
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो;
तेहि दिन क्यों नहिं धरनि समायो।
रह्यो कलंक न भारत नामा;
क्यों रे तू बारानसि धामा।
सब तजिकै, भजिकै दुख भारो;
अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो।
अरे अग्नबन तीरथराजा;
तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा।
पापिनि सरजू नाम धराई;
अजहूँ बहति अवध-तट जाई।
तुममैं जल नहिं जमुना, गंगा;
बढ़हु बेगि करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी;
बोरहु किन झट मथुरा, कासी।

कुस, कन्नौज, अंग अरु बंगहि ;
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि ।
बोरहु भारत-भूमि सबेरे ;
मिटै करक जिय के सब मेरे ।
अहो भयानक भ्राता सागर ;
तुम तरंग-निधि अति बल-आगर ।
बोरे बहु गिरि, वन, अस्थाना ;
पै बिसरे भारत हित जाना ।
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई ;
देहु भरत-भुव तुरत डुबाई ।
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय ;
करहु सकल जल भीतर तुम लय ।
धोवहु भारत-अपजस-पंका ;
मेटहु भारत-भूमि-कलंका ।

राय देवीप्रसाद "पूर्ण"

[जन्म संवत् १९२५, मृत्यु संवत् १९७२]

इस सरस कवि को जन्म देने का गौरव प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध मध्यप्रांत के जबलपुर नगर को प्राप्त है। पूर्ण जी का अध्ययन जबलपुर में और जीवन-काल कानपुर में बीता। आप न केवल सुकवि थे—बल्कि प्रतिष्ठित समाज-सेवक, देशभक्त, उत्तम-वक्ता धर्मधुरीण और हिंदी के अनन्य प्रेमी थे। आपके उच्च व्यक्तित्व, उत्कृष्ट भावनाओं, उदार और स्नेहशील विचारों तथा सादे जीवन की झलक आपकी रचनाओं में मिलती है। आपकी कविताओं में यत्र-तत्र आपका व्यक्तित्व बोलता है। आप सनातन-धर्मी होते हुए भी थिओसाफीकल सोसायटी के अनुगामी थे। आप की रचनाओं में विश्व-बंधुत्व की छाप जहाँ-तहाँ मिलती है

आपने चन्द्रकला, भानुकुमार (नाटक) तथा धाराधर-धावन आदि रचनाएँ लिखी हैं। आपकी कविताओं का संग्रह पूर्ण-संग्रह के नाम से प्रकाशित हुआ है। आप आधुनिक हिंदी के उस बचपन के ज़माने में भी 'धर्म कुसुमाकर' नामक पत्र प्रकाशित करते रहे।

आपकी कविताओं में प्राचीनकाल की कविताओं से भाव, भाषा, कल्पना और छंद सभी दृष्टियों से नवीनता पाई जाती है। भाषा लालित्य से पूर्ण है।

१९७२ में केवल ४७ वर्ष की आयु में आपकी मृत्यु हो गई।

संग्राम-निंदा

( )

अरे! तू अधम काल के मित्र!
जगत् के शत्रु! नीच संग्राम!
अरे धिक्कार तोहिं सौ बार;
अमंगल! दुःखद! पातक-धाम!

(२)

सघन-सुख-पंकज-पुंज-तुषार !
देश-उन्नति-तरु-कठिन-कुठार !
शांति-वन-दहन प्रचंड कृषानु !
भयानक हिंसावंशागार !

(३)

देश संपत्ति कृषी पै हाय,
परत तू टूटि गाज के रूप !
लोक-द्रोही ! धिक-धिक-धिक !
तोहिं, युद्ध! रे व्याधि-देश के भूप!

(४)

नीच जन के अघ के परिणाम!
देश दुष्कर्म विपाक स्वरूप !
प्रजा-मुद-कुसुमाकर को ग्रीष्म!
अरे दारुण संताप अनूप !

(५)

अरे संग्राम ! घृणा के धाम!
धर्म-द्रोही, अपकारी क्रूर !
रुधिर के प्यासे! अरे पिशाच!
उपद्रव करन ! धूर्त! भरपूर!

(६)

जगत में तू ही वार अनेक,
प्रकट ह्वै किए घने उतपात;
भरे इतिहासन में वृत्तांत,
तिहारे दुर्गुन के विख्यात।

(७)

रूम, यूनान, मिस्र वा रोम,
स्पेन, जर्मनि, वा इंग्लिस्तान;
आस्ट्रिया, फ्रांस देश वा होय,
अफरिका, अमेरिका, जापान।

(८)

सबन को जैतो है इतिहास,
होय सो नवीन वा प्राचीन;
ठौर ही ठौर भरी तेहि माँहिं,
युद्ध की कथा महादुखलीन।

(९)

अरे तू जगत उजाड़नहार!
अकथ दुखकरन! अपावन! भीम!
कहाँ लौ वरनूँ हे खलराज!
तिहारे निंदित कर्म असीम!

अमल्तास

(प्रचंड-ग्रीष्म की दोपहरी में सरस-पुष्प-गुच्छों से आच्छादित अमल्तास के वृत्त को देखने पर उक्ति)

(१)

छबीले अमल्तास तरु-जाल, तुम्हारे दरसीले अभिराम;
रँगीले पीले सुमन-समूह, धूप काल में भी छवि-धाम।

देख कुछ रोचक नए विचार, हृदय में उदय हुए दो-चार;
उन्हीं का है यह आविर्भाव, रसिक प्रति प्रीति-पूर्ण उपहार।

(२)

वाटिका-विपिन-नासिका-रूप, सघन किंशुक प्रसून परिवार;
कमल, गेंदा, गुलाब, कचनार, विमल सेमल, अनार, गुलनार।
लालिमा से जिनकी यह भूमि, बनी अनुराग-समुद्र अपार;
उन्हें यह भीष्म ग्रीष्म की आज, किए देती है ज्वाला छार।

(३)

सेवती, जाही, जुही, अगस्त, चाँदनी, कुमुद, चमेली-फूल;
मोगरा, बेला, विशद, कनैर, निवारी फुलवारी छवि मूल।
सभी की परिमल निर्मल कांति, हुई निर्मूल मलिनता संग;
जगत के पादप सभी निदान, किए इस आतप ने बदरंग।

(४)

धन्य पर तुझको बारंबार, चिरंजीवी द्रुम सुखमागार;
चंडकर-किरण प्रचंड अखंड, हुई तव हेतु चन्द्रिका सार।
नहीं यद्यपि सिंचन-सुविधान, अकिंचन के धन हैं भगवंत;
पीत फूलों से तेरे मीत, बीत कर दरसै पुनः वसन्त।

(५)

देख तव वैभव द्रुम-कुल संत, विचारा उसका सुखद निदान;
करै जो विषम काल को मंद, गया उस सामग्री पर ध्यान।
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के संग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त;
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल दहन में तेरे रहा अशक्त।

लक्ष्मी

"पद्मा", "रमा", पद्ममुखी, ललामा,
पद्मासना, पद्मवनाभिरामा;

पद्मेक्षणी, पद्मपदी, उदारा,
देवी "जयंती", जय विष्णुदारा ।

(२)

"श्री", हेमवर्णी "हरिणी", सुलीला,
दारिद्र-बाधा-हरिणी सुशीला;
आनन्द-रूपा, प्रकृति-स्वरूपा,
सो वंदनीया जननी अनूपा ।

(३)

मनोहरा, पद्मधरा, प्रसन्ना,
सुखाकरा, साधु-सुर-प्रपन्ना;
हिरण्यरम्या, नद-राज-कन्या,
सुराग्रगण्या, वर-रूप धन्या ।

(४)

मातंग-हिंकार विनोदिनी है,
तुरंग-पूर्णा, रथ-मोदिनी है;
सुनागरी, सागर-वासिनी है,
गुनागरी, विष्णु-विलासिनी है ।

(५)

मुक्ता-लता-सी, सुमणि-प्रभा-सी,
विद्या-छटा-सी, सुमना सुधा-सी;
"सूर्या", "क्षमा", कांचन-वल्लिका-सी,
"चंद्रा", शुभा, मंजुल मल्लिका-सी ।

(६)

संपत्करी, सर्व-व्यथा-हरी है,
तेजःकरी भूरि यशःकरी है;
लोकेश्वरी देवगणेश्वरी है,
अन्नेश्वरी, प्राण-धनेश्वरी है ।

(७)

देवेन्द्र के लोक प्रभास तेरो,
यत्तेन्द्र के ओक विभास तेरो;
साकेत-कैलास-निवास तेरो,
श्री विष्णु के पास विलास तेरो ।

(८)

अज्ञान को तू रवि-मालिका है,
संकष्ट को काल-करालिका है;
दया-समुद्रा जन-पालिका है,
अनूप माता जल-बालिका है ।

(९)

विद्यावती है, गरिमावती है,
प्रज्ञावती है, महिमावती है,
तू शंकरी है, अरु भारती है,
प्रभावती है, प्रतिभावती है ।

(१०)

व्यापार-वीथीं बिच तू उजेरी,
संसार-खेती बिच तू हरेरी;
उद्योग-उद्यान-वसन्त तू है,
दिगंत में सार अनन्त तू है ।

(११)

वसन्त में पुष्प ललाम तू है,
वर्षा-विहारी घनश्याम तू है;
हेमन्त में चारु तुषार तू है,
संसार-सत्ता अरु सार तू है ।

(१२)

तू मंगला मंगलकारिणी है,
सद्भक्त के धाम विहारिणी है,
माता सदा पूर्ण-पिता-समेता,
कीजै हमारे चित में निकेता ।

(१३)

तू अंब मो पै अनुकूल जो है,
संसार में, तौ, प्रतिकूल को है ?
आदित्य-वर्णी वर विश्वरानी,
मैं तोहि बंदौं मन-काय-बानी ।

(१४)

श्री वासवी की जय माधवी की,
सुमालिनी की वनमालिनी की;
सुरोत्तमा की सु-मनोरमा की,
त्रिलोक-मा की अखिलोपमा की ।

———

पं० श्रीधर पाठक

[जन्म संवत् १९१६—मृत्यु संवत् १९८५]

पंडित श्रीधर पाठक खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में सुन्दर और सरस कविताएँ लिखते थे। इनकी कविताओं की शब्द-योजना ललित है, भावनाएँ नवीन हैं। प्रकृति के सौन्दर्य-निरीक्षण और वर्णन में पाठक जी को पूर्ण सफलता मिली है। इनकी आराध्य-शोकांजलि, श्री गोखले-प्रशस्ति, एकान्तवासी योगी, ऊजड़ग्राम, श्रांतपथिक, जगत सचाई सार, काश्मीर-सुषमा, मनोविनोद, श्री गोखले-गुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुँदरी, गोपिका-गीत, भारत-गीत आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये अंग्रेज़ी लिखने में भी सिद्धहस्त थे। इन्होंने गोल्डस्मिथ की तीन पुस्तकों का पद्यानुवाद एकान्तवासी योगी, ऊजड़-ग्राम और श्रांत पथिक नाम से बहुत ही सरस भाषा में किया है।

इनकी कविताओं से जान पड़ता है कि इनके हृदय में राष्ट्रीय भावनाएँ सदा तरंगित होती रही हैं। इनकी राष्ट्रीय रचनाएँ आज भी नवीन जान पड़ती हैं।

यद्यपि इनकी कविताओं में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है, फिर भी अनेक प्रयोग खड़ी बोली के व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं। इस त्रुटि के होते हुए भी भाषा का सौष्ठव और माधुर्य कम नहीं होने पाया।

हिमालय

अगणित पर्वत-खंड चहूँ दिसि देत दिखाई।
सिर परसत आकाश, चरण पाताल छुआई।
सोहत सुंदर खेत-पाँति तर ऊपर छाई।
मानहु विधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई।
गहरे गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई।
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई।
तहाँ निपट निश्शंक, वन्य पशु सुख सों विचरत।
करत केलि कल्लोल, मुदित आनंदित विहरत।
कहुँ ईंधन को ढेर सिद्ध-आवास जनावत।
कहुँ समाधि-स्थित जोगी की गुहा सुहावत।
विविध विलच्छन दृस्य, सृष्टि-सुखमा-मुख-मंडल।
नन्दन-वन-अनुरूप भूमि-अभिनय-रङ्गस्थल।
प्रकृति-परम-चातुर्य अनूपम अचरज-आलय।
श्रीधर-दृग छकि रहत अटल छवि निरख हिमालय।

भारत-गीत

१

जय जय प्यारा, जग से न्यारा
शोभित सारा, देश हमारा,
जगत-मुकुट, जगदीश-दुलारा
जग-सौभाग्य सुदेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

२

प्यारा देश, जय देशेश,
जय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न संभव अघ का लेश,
संभव केवल पुण्य-प्रवेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

३

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश।
जय जय प्यारा भारत देश।

४

जय जय शुभ्र हिमाचल शृंगा,
कल-रव-निरत कलोलिनि गंगा,
भानु-प्रताप-चमत्कृत अंगा
तेज-पुंज तपवेश।
जय जय प्यारा भारत देश।

५

जग में कोटि-कोटि जुग जीवे,
जीवन-सुलभ अमी-रस पीवे,
सुखद वितान सुकृत का सीवे,
रहे स्वतंत्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत देश।

———

छात्र

अहो छात्र-वर-वृंद, नव्य-भारत सुत, प्यारे।
मातृ-गर्व-सर्वस्व, मोद-प्रद, गोद-दुलारे।
अहो भव्य भारत भविष्य निशि के उजियारे।
शुभ आशा विश्वास व्योम के रवि, विधु, तारे।
गृह-जीवन-नव-ज्योति, प्रेम प्रकृत स्रोत तुम।
विनय-शील-उद्योत, जगत के सुकृत स्रोत तुम।
मातृभूमि के प्राण, मातृ सुख-संप्रदान तुम।
मातृ-सत्त्व-संत्राण-कुशल, भुज-बल-निधान तुम।
आर्य-वंश-अक्षय-वट के अभिनव प्रवाल तुम।
आर्य-संत-जीवन-पट के सुठि तंतु-जाल तुम।
आर्य-वर्ण-आश्रम-उपवन के फल-रसाल तुम।
आर्य-कीर्ति-तंत्री-गुण के स्वर, शब्द, ताल तुम।
निज सुजन्म-संतति सरोज-वन के मृणाल तुम।
मानव-कुल-मानस ह्रद के मंजुल मराल तुम।
जग-सुकृत्य-रत भारत के सौभाग्य-भाल तुम।
प्रिय स्वदेश अंतर आत्मा के अंतराल तुम।
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज सुप्रेरित-मति-विशाल तुम।
सुघर, सुपूत, सुमाता के लाड़ले लाल तुम।
भारत-लाज-जहाज-सुदृढ़-सुठि-कर्णधार तुम।
भारति-कंठ-विहार विशद-मंदार-हार तुम।
निज-अभिरुचि, निज भाषा-भूषा-भेष-विधाता।
निज सत्ता, निज पौरुष, निज स्वत्वों के त्राता।
निज-परता-भ्रम-रहित करौ निज-हित-विचार तुम।
हित-परता-क्रम-सहित करौ पर-हित-प्रचार तुम।

सत-सेवा-व्रत धार जगत के हरौ क्लेश तुम।
देश-देश में करौ प्रेम का अभिनिवेश तुम।
इस विधि से निस्संग करौ सेवा-प्रसंग तुम।
फिर फिर पर-हित-हेतु भरौ उर में उमंग तुम।
सब विधि यों युव-वृन्द, बनौ नर-प्रवर वंद्य तुम।
त्यों हरि-पद-अरविंद-भ्रमर, भुवि-समभिनंद्य तुम।

——— —

आर्य-महिला

अहो पूज्य भारत-महिला-गण, अहो आर्य-कुल-प्यारी।
अहो आर्य-गृह-लक्ष्मि-सरस्वति, आर्य-लोक उजियारी।
अहो आर्य-मर्याद-स्रोतिनी, आर्य हृदय की स्वामिनि।
आर्य-ज्योति, आर्यत्व-द्योतिनी, आर्य-वीर्य-घन-दामिनि।
आर्य-धर्म जीवन-महिमामयि, आर्य-जन्म संजीवनि।
आर्य-शील-सुषमामयि, सुंदरि, अयि मा, आर्य-सती-मणि।
आर्य त्रिभुवन-अभिवंद्य-यशस्विनि,
अयि त्रिशक्ति-संशोभिनि।
त्रिगुण-जयिनि, मृग-नयनि, मनस्विनि,
मधुमयि, त्रिजग-प्रलोभिनि।
तुम हो शक्ति अजेय विश्व की; अयि अभेद-बल-धारिणी।
आर्य स्वदेश-सुख-दुःख-संगिनी, अखिल-श्रेय-संचारिणि।
आर्य-जगत में जननि पुनः निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य-हृदय में पुनः आर्यता का शुच स्रोत बहाओ।
अक्षय-सुकृत-मयी, स्वकुक्षि से कृती आर्यसुत ज्याओ।
त्रितय-शक्ति-पूरित स्व-वक्ष से पुनः पुंस्त्व-पय प्याओ।
करो सार्थ कमनीय नाम निज अहो आर्य-कुल कामिनि।
आर्य-प्रेम की पुण्य-पताका, आर्य-गेह की स्वामिनि।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(जन्म संवत् १६२२)

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय उन महान् कवियों में से हैं जिनका खड़ी बोली के निर्माण में प्रभाव-शाली हाथ रहा है। इन्होंने ब्रजभाषा में भी सफलता पूर्वक सरस कविताएँ लिखी हैं। भाषा पर इनको पूर्ण अधिकार प्राप्त है। कठिन से कठिन, सरल से सरल और बामुहावरा भाषा लिखने में ये वेजोड़ हैं। इनका 'प्रिय-प्रवास' उच्चकोटि की संस्कृत-प्राय साहित्यिक खड़ी बोली में लिखा महाकाव्य है तो 'बोल-चाल' 'चोखे चौपदे' आदि ग्रंथ मुहावरेदार साधारण बोलचाल की भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गद्य-लेखन में भी ये सिद्ध-हस्त हैं। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' नामक इनका उपन्यास जिसमें संस्कृत और उर्दू के शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है, अपितु ठेठ हिंदी की शोभा दिखाई गई है, 'सिविल सरविस' की परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत है। शब्दों के तो ये जादूगर हैं।

'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य पर इन्हें हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पुरस्कार दिया गया है। ये दो बार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं।

दीपावली

वसुधा हँसी, लसी दिवि दारा,
विलसित शरद सुधा-निधि द्वारा।
हुआ विभासित नील गगन-तल,
उच्च हिमालय मंजुल अंचल,
काश-प्रसून-समूह समुज्वल,
कमला-कलित सकल पंकज-दल,
चढ़ा पादपावलि पर पारा।

अमल-धवल आभाओं से लस,
वहा दिशाओं में अनुपम रस,
विभा गई तृण वीरुध में बस,
हुआ उमंगित मानव-मानस,
चमकता जगत विलोचन-तारा।

मिले विमलता परम मनोरम,
बने नगर, पुर, ग्राम दिव्यतम,
सुधा-धवल मंदिर सुर-पुर-सम,
स्वच्छ सलिल सर-सरित-समुत्तम,
हुआ रजत निभ-रज-कण सारा।

बना काल को कलित कांतिधर,
अमा-निशा को आलोकित कर;
पावस-जनित कालिमाएँ हर;
दमक दीपमालाओं में भर,
घर घर बही ज्योति की धारा।

———

भारत के नवयुवक

जाति-धन, प्रिय नवयुवक-समूह,
विमल मानस के मंजु मराल;
देश के परम मनोरम रत्न,
ललित भारत-ललना के लाल।

लोक की लाखों आँखें आज,
लगी हैं तुम लोगों की ओर;
भरी उनमें है करुणा भूरि,
लालसामय है ललकित कोर।

उठो, लो आँखें अपनी खोल,
विलोको अवनी-तल का हाल;
अनालोकित में भर आलोक,
करो कमनीय कलंकित भाल।

भरे उर में जो अभिनव ओज,
सुना दो वह सुंदर झनकार;
ध्वनित हो जिससे मानस-यंत्र,
छोड़ दो उस तंत्री के तार।

रगों में बिजली जावे दौड़,
जगे भारत-भूतल का भाग;
प्रभावित धुन से हो भरपूर,
उमग गाओ वह रोचक राग।

हो सके जिससे सुगठित जाति,
सुकंठों में गूँजे वह तान;
भाव जिसमें हों भरे सजीव,
करो ऐसे गीतों का गान।

कर विपुल-साहस वज्र-प्रहार—
विफलता-गिरि को कर दो चूर;
जगा दो सफल साधना-ज्योति,
विविध बाधा-तम कर दो दूर।

गगन में जग, भूतल में घूम,
निकालो कार्य-सिद्धि की राह;
अचल को विचलित कर दो भूरि,
रोक दो वारिधि-वारि-प्रवाह।

धूल में क्यों मिलती है धाक,
बचा लो बची-बचाई आन;
मचा दो दोष-दलन की धूम,
मसल दो दुखको मशक-समान।

लाभ-हित देश-प्रेम-रवि-ज्योति,
आँख लो निज भावों की खोल;
त्याग करके निजता-अभिमान,
जाति-ममता का समझो मोल।

देश के हित निज-जाति-निमित्त,
अतुल हो तुम लोगों का त्याग,
अवनि-जन-अनुरंजन के हेतु,
बनो तुम मूर्तिमान अनुराग।

अनाथों के कहलाओ नाथ,
हरो अबला जन-दुख अविलंब;
सबलता करो जाति को दान,
अबल जन के होकर अवलंब।

बनो असहायों के सर्वस्व,
अबुध जन की अनुपम अनुभूति;

वृद्ध जन के लोचन की ज्योति,
अकिंचन-जन की विपुल विभूति।
सरस रुचि रुचिर कंठ के हार,
सुजीवन-नव-घनमत्त-मयूर;
लोक-भावुकता तन-शृंगार,
सुजनता-भव्य-भाल सिंदूर।
भरो भूतल में कीर्ति-कलाप,
दिखा भारत-जननी से प्यार;
करो पूजन उनका पद-कंज,
बना सुरभित सुमनों का हार।

शक्ति

जिसे है मानवता का ज्ञान,
नहीं पशुता से जिसकी प्रीति;
बिना त्यागे विनयन का पंथ,
लोक-नियमन है जिसकी नीति।
क्रोध जिसका है शांति-विहीन;
लोभ जिसका लालसा-विहीन;
मोह जिसका है महिमावान;
काम जिसका अकामनाधीन।
न मद में मादकता का नाम,
न तन में अतन-ताप का लेश;
रूप जिसका है लोक-ललाम,
अवनि-रंजन है जिसका वेश।
न मस्तक पर कलंक का अंक,
न जिसका लहू भरा है हाथ;

विहरती रहती है सब काल,
लोक-लालनता जिसके साथ।
जलद-सम कर जन-जन को सिक्त,
रस बरसती जिसकी अनुरक्ति;
भरा है जिसमें भव का प्यार,
वही है विश्व-विजयिनी शक्ति।

प्रिय-प्रवास

आई वेला हरि-गमन की छा गई खिन्नता-सी
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में।
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले,
धीरे-धीरे स-जनक कढ़े सद्म में से मुरारी।
आते आँसू अति कठिनता से सँभाले दृगों के,
होती खिन्ना हृदय-तल के सैंकड़ों संशयों से।
थोड़ा पीछे प्रिय तनय के भूरि शोकाभिभूता,
नाना वामा सहित निकलीं गेह में से यशोदा।
द्वारे आया व्रज नृपति को देख यात्रा निमित्त,
भोला भोला निरख मुखड़ा फूल से लाडिलों का।
खिन्ना दीना परम लख के नन्द की भामिनी को,
चिन्ता डूबी सकल जनता हो उठी कंपमाना।
कोई रोया, सलिल न रुका लाख रोके दृगों का,
कोई आहें सदुख भरता हो गया बावला सा;
कोई बोला सकल व्रज के जीवनाधार प्यारे,
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो?
रोता-धोता विकल बनता एक आभीर बूढ़ा,
दीनों के से वचन कहता पास अक्रूर के आ।

बोला—कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें,
मेरे प्यारे कुँवर मुझ से आज न्यारे न होवें।
मैं बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना,
तो मेरी है विनय इतनी श्याम को छोड़ जावें।
हा! हा! सारी व्रज अवनि का प्राण है लाल मेरा
क्यों जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो?
रत्नों की है न तनिक कमी आप लें रत्न ढेरों,
सोना-चाँदी सहित धन की गाड़ियाँ आप ले लें।
गायें ले लें गज तुरग भी आप ले लें अनेकों,
लेवें मेरे न निजधन को जोड़ता हाथ मैं हूँ।
जो है प्यारी धरनि व्रज की यामिनी के समाना,
तो तातों के सहित सिगरे गोप हैं तारकों से।
मेरा प्यारा कुँवर उसका एक ही चन्द्रमा है,
छा जावेगा तिमिर वह जो दूर होगा दृगों से।
सच्चा प्यारा सकल व्रज का वंश का है उजाला,
दीनों का है परम धन और वृद्ध का नेत्र-तारा।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का,
ले जाते हैं सुरतरु कहाँ आप ऐसा हमारा।
बूढ़े के ये वचन सुनके नेत्र में नीर आया,
आँसू रोके परम मृदुता साथ अक्रूर बोले—
क्यों होते हैं दुखित इतने मानिये बात मेरी,
आ जावेंगे विवि दिवस में आप के लाल दोनों।
आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा-प्रवीणा,
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से लीं बलायें।
पीछे बोली दुखित स्वर से तू कहीं जा न बेटा,
तेरी माता अहह कितनी बावली हो रही है।

जो रूठेगा नृपति व्रज का वास ही छोड़ दूँगी;
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूँगी।
खाऊँगी फूल-फल-दल को व्यंजनों को तजूँगी,
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।
जाओगे क्या कुँवर मथुरा कंस का क्या ठिकाना,
मेरा जी है बहुत डरता क्या न जाने करेगा ?
मानूँगी मैं न सुरपति का राज ले क्या करूँगी ?
तेरा प्यारा वदन लख के स्वर्ग को मैं तजूँगी।
जो चाहेगा नृपति मुझसे दंड दूँगी करोड़ों,
लोटा-थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूँगी।
जो माँगेगा हृदय वह तो काढ़ दूँगी उसे भी,
बेटा ! तेरा गमन मथुरा मैं न आँखों लखूँगी।
कोई भी है न सुन सकता जा किसे मैं सुनाऊँ ?
मैं हूँ मेरा हृदय-तल है औ व्यथा हैं अनेकों।
बेटा ! तेरा सरल मुखड़ा शान्ति देता मुझे है,
क्यों जीऊँगी कुँवर ! बतला जो चला जायगा तू ?
प्यारे तेरा गमन सुन के दूसरे रो रहे हैं,
मैं रोती हूँ सकल व्रज है वारि लाता दृगों में :
सोचो बेटा ! उस जननि की क्या दशा आज होगी ?
तेरे जैसा सरल जिसका एक ही लाड़ला है।
प्राचीना की सदुख सुन के सर्व बातें मुरारी,
दोनों आँखें सजल करके प्यार के साथ बोले—
मैं आऊँगा कुछ दिन गये बाल होगा न बाँका,
क्यों माता तू विकल इतना आज यों हो रही है ?
दौड़ा ग्वाला व्रज नृपति के सामने एक आया,
बोला गायें सकल बन को आपकी हैं न जातीं।

दाँतों से हैं न तृण गहतीं हैं न बच्चे पिलातीं,
हा ! हा ! मेरी सुरभि सब को आज क्या होगया है ?'
देखो ! देखो ! सकल हरि की ओर ही आ रही हैं।
रोके भी हैं न रुक सकतीं बावली हो गई हैं।
यों ही बातें सदुख कहके फूट के ग्वाल रोया,
बोला मेरे कुँवर सब को यों रुला के न जाओ।
रोता ही था जब वह तभी नन्द की सर्व गायें,
दौड़ी आयीं निकट हरि के पूँछ ऊँचा उठाये !
वे थीं खिन्ना विपुल विकला वारि था नेत्र लाता,
ऊँची आँखों कमल मुख थीं देखती शंकिता हो।
काकातूआ महर-गृह के द्वार का भी दुखी था,
भूला जाता सकल-स्वर था उन्मना हो रहा था।
चिल्लाता था अति विकल था औ यही बोलता था,
यों लोगों को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो ?

पक्षी की औ सुरभि सब की देख ऐसी दशायें,
थोड़ी जो थी अहह ! वह भी धीरता दूर भागी।

हा ! हा ! शब्दों सहित इतना फूट के लोग रोये,
हो जाती थीं निरख जिसको भग्न छाती शिला की।
आवेगों के सहित बढ़ते देख सन्ताप-सिंधु,
धीरे धीरे व्रज-नृपति से खिन्न अक्रूर बोले—

देखा जाता ब्रज-दुख नहीं शोक है वृद्धि पाता,
आज्ञा देवे जननि पग छूं यान पै श्याम बैठें।'
आज्ञा पा के निज जनक की, मान अक्रूर बातें,
जेठे भ्राता सहित जननी-पास गोपाल आये।
छू माता के कमल पग को धीरता साथ बोले,
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ।
दोनों प्यारे कुँवर-वर के यों विदा माँगते ही,
रोके आँसू जननि दृग में एक ही साथ आये।
धीरे बोलीं परम दुख से जीवनाधार जाओ,
दोनों भैया मुख-शशि हमें लौट आके दिखाओ।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

[जन्म संवत्—१९४३]

गुप्त जी झाँसी जिले के चिरगाँव नामक स्थान में रहते हैं। खड़ी बोली के कवियों में इनका बहुत ऊँचा स्थान है। आधुनिक कवियों में इनकी ही पुस्तकें जन-साधारण में सबसे अधिक प्रिय हैं। इनकी वर्णन-शैली स्पष्ट, सरस और सरल होती है। इनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। इनकी 'भारत-भारती' पुस्तक ने हज़ारों आदमियों को देश का दीवाना बनाया है। ये 'कला कला के लिए' सिद्धांत के हिमायती नहीं हैं, बल्कि 'कला संसार कल्याण के लिए है' इस बात के मानने वाले हैं। इनकी रचाओं से सर्वसाधारण में राष्ट्रीय भावनाएँ जाग्रत होती हैं, प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, धार्मिक प्रवृत्ति विकसित होती है और अत्यधिक शांति मिलती है।

इनकी भाषा शुद्ध, सरस और प्रसाद गुणयुक्त होती है। खड़ी बोली को साहित्यिक रूप देने वालों में गुप्त जी का विशेष हाथ है। इनके 'साकेत' नामक महाकाव्य पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार दिया था।

इन्होंने भारत-भारती, जयद्रथवध, किसान, गुरुकुल, प्लासी का युद्ध, रंग में भंग, बक-संहार, वन-वैभव, हिंदू, शकुंतला, विरहिणी-व्रजांगना, साकेत, यशोधरा, द्वापर, मंगलघट, झंकार और सिद्धराज आदि अनेक काव्य ग्रंथ लिखे हैं।

आगे

फिरें स्वयं भय भागे,
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !

बीत गया है वह अतीत तो,
किसके लिए रुका तू ?
पीछे छूट गया जो, उसका
रस तो लूट चुका तू !
पाकर नई अतृप्ति निरंतर
नये पाठ पढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !

आगे अंधकार तो पीछे
अस्ताचल की लाली,
क्रम क्रम से गिरती है उस पर
अमिट यवनिका काली !
पर देखे हैं सभी दृश्य वे
आ, रहस्यमय आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !

गिर गिर कर ही तो सँभलेगा
अटकेगा———झटकेगा,
तभी लगेगा न तू ठिकाने,
जब भूले—भटकेगा।
उठ, तू उठता ही जावेगा
ऊँचे चढ़-चढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !

अंत नहीं यदि इस पद्धति का
तो अनंत मति तेरी,

तर, तारक बन अरे अमर नर,
छाई रहे अँधेरी ।
धर दृढ़ चरण, समृद्धि-वरण कर
किरण-तुल्य कढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे

एक फूल

मेरे आँगन का एक फूल !
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ,
संसार-विटपि में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल !
मेरे आँगन का एक फूल !
ऊषा ने अपना उदय किया,
दीपक ने निज निर्वाण लिया,
मुझको मारुत ने जगा दिया,
देखा कि दे गया हृदय-शूल,
मेरे आँगन का एक फूल !
वह रूप कहाँ, वह रंग कहाँ,
हिलने डुलने का ढंग कहाँ,
हो गया हरे ! रस-भंग यहाँ,
उड़ गई गंध की हाय ! धूल,
मेरे आँगन का एक फूल !

क्षार-पारावार

छोड़ मर्यादा न अपनी, वीर, धीरज धार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !
रोक सकता है तुम्हें क्या मृत्तिका का तीर !
थाम अपने आपको तू, ओ अतल गंभीर !
व्यर्थ मटमैला न हो वह नील-निर्मल-नीर,
ताप-दुःशासन-दलित भू द्रौपदी का चीर।
सुन, अमर्यादा प्रलय का खोल देगी द्वार !
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

ये गले, पिघले हुए पर्वत-सदृश कल्लोल,
ग्रास करने जा रहे हैं कह किसे मुँह खोल !
ये सलिल-वातूल अपने तनिक तू ही तोल,
वेग वह वेला वराकी सह सकेगी, बोल !
धीर, अपने ही हिये पर झेल उनका भार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

हाय, जल में भी जले जो, एक ऐसी आग,
जान ले तब प्राकृतिक है यह प्रबल उपराग।
उचित ही यह उफनना, यह हाँफना, ये झाग,
पर ठहर प्रभविष्णु, तू न सहिष्णुता को त्याग।
काट दे बंधन सहित सब कुछ न तेरी धार।
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार।

मथित है, हृतरत्न है, फिर भी नहीं तू दीन,
देव-कार्य-निमित्त था वह योग एक नवीन।
पूछ देख, अनन्त-कवि तेरे हृदय में लीन,
अचल-सा यह विश्व है तुच्छातितुच्छ विहीन।
तू बड़े से भी बड़ा, उस त्याग को स्वीकार
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार।

क्या अमृत के अर्थ है यह भीम तेरा नाद ?
तो गरल भी तो गया फिर कौन हर्ष-विषाद ?
जानते हैं जलद तेरे क्षार जल का स्वाद,
और जगती को जनाते हैं सदा साह्लाद।
ओ मधुर-लावण्यमय तू छोड़ क्षोभ विकार
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

विकल है यदि तू, दिवंगत देख मंजु-मयंक,
तो निरख, उसको मिला है अचल-ऊँचा अंक।
इष्ट सबका एक सा वह, राव हो या रंक,
वह वहीं कृतकृत्य है, रह तू यहाँ निःशंक।
देखकर सद्गति किसी की उचित क्या चीत्कार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

रस हमीं हम में यहाँ बस, ठीक है यह बात,
किंतु रक्खे एक सीमा सौम्य, तेरा गात।
अखिल में अनुभूति अपनी प्राप्त तुझको तात,
सरस है सारी रसा पाकर सलिल-संघात।
मिल हुआ दिव भी तुझी में दूर एकाकार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

वस्तुतः यह क्षोभ तेरा यह अतुल उल्लास !
हाय, उपजाती बड़ों की मौज भी है त्रास।
सहम तेजोमय किसे रवि का अखंड विकास ?
और भोलानाथ हर का हास-तांडव रास ?
ध्वंस के ही साथ क्या निर्माण का व्यवहार ?
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

शांत, ओ गंभीर, ओ उत्ताल जल-जंजाल,
व्योम तेरी ऊर्मि में, आवर्त में पाताल।

व्यथित, तेरे वाष्प की रस-वृष्टि ही चिरकाल,
है हरा रखती धरा को, दे सुमुक्ता-माल !
एक तेरे अंक में है यान-गत संसार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !
देख अपनी ओर तू, ओ घोर-सुंदर, सार,
लाख रत्नों से भरे तेरे धरे भांडार,
लाख लहरों का सदा तुझमें रहे संचार,
लाख धाराएँ करें तेरे लिए अभिसार।
साख एक बनी रहे, बंधन नहीं, वह हार,
क्षुब्ध-पारावार, मेरे क्षार-पारावार !

निर्झर

शत-शत बाधा-बंधन तोड़
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
साबित कर पृथ्वी के पर्त्त,
सम-तल कर बहु गह्वर गर्त्त,
दिखला कर आवर्त्त-विवर्त्त,
आता हूँ आलोड़-विलोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
पारावार-मिलन की चाह,
मुझे मार्ग की क्या परवाह ?
मेरा पथ है स्वतः प्रवाह,
जाता हूँ चिर जीवन जोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
गढ़ कर अनगढ़ उपल अनेक,
उन्हें बनाकर शिव सविवेक,
करके फिर उनका अभिषेक,

बढ़ता हूँ निज नवगति मोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
हरियाली है मेरे संग,
मेरे कण-कण में सौ रंग,
फिर भी देख जगत के ढंग,
मुड़ता हूँ मैं भृकुटि मरोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
धर कर नव कलरव निष्पाप,
हर कर संतापों का ताप,
अपना मार्ग वनाकर आप,
जाऊँ सब कुछ पीछे छोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !
है सब का स्वागत-सम्मान,
करे यहाँ कोई रस-पान,
मेरा जीवन गतिमय गान,
काल ! तुझी से मेरी होड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !

मेरा देश

बलिहारी तेरा वरवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश.
बाहर मुकुट विभूषित भाल,
भीतर जटा-जूट का जाल ।
ऊपर नभ, नीचे पाताल,
और बीच में तू प्रणपाल ।
बंधन में भी मुक्त निवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

कभी मुरज-मय वीणावाद,
कभी स्वरों से साम-निनाद।
कभी गगनचुम्बी प्रासाद,
कभी कुटी में ही आह्लाद।
नहीं कहीं भी भय का लेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

है तेरी कृति में विक्रांति,
भरी प्रकृति में अविचल शांति।
फटक नहीं सकती है भ्रांति,
आँखों में है अक्षय क्रांति,
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

सरस्वती का तुझ में वास,
लक्ष्मी का भी विपुल-विलास।
प्रिया प्रकृति का पूर्ण विकास,
फिर भी है तू आप उदास।
हे गिरीश, हे अम्बरकेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

मस्तक में रखता है ज्ञान,
भक्ति-पूर्ण मानस में ध्यान।
करके तू प्रभु कर्म विधान,
है सत् चित् आनन्द निधान।
मेटे तूने तीनों क्लेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

इधर विविध लीला विस्तार,
उधर गुणों का भी परिहार।

जिधर देखिए पूर्णाकार,
किधर कहें हम तेरा द्वार ?
हृदय कहीं से करे प्रवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

तन से सब भोगों का भोग,
मन से महा अलौकिक योग।
पहले संग्रह का संयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।
अद्भुत है तेरा उद्देश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

बन कर तू चिर साधन धाम,
हुआ स्वयं ही आत्माराम।
लिया नहीं तब तक विश्राम—
जब तक पूरा किया न काम।
दिये तुझी ने सब उपदेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

उर्मिला की विरह-वेदना

(१)

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी !
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उसे उष्ण रक्खेगी मेरी तपन-मनी !

अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है मुझ में उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

(२)

आ जा, मेरी निदिया गूँगी !
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चंदखिलौना दूँगी !
प्रिय के आने पर आवेगी,
अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी।
पर यदि आज उन्हें लावेगी,
तो तुझसे ही लूँगी।
आ जा, मेरी निदिया गूँगी !
पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू,
तनिक सलौना रस भी चख तू,
आ, दुखिया की ओर निरख तू,
मैं न्योछावर हूँगी।
आ जा, मेरी निदिया गूँगी !

(३)

मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले लेकर यह अंतरिक्ष सखि, आज बना है दानी !
मेरी ही धरती का धूम,
बना आज आली, घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुक झूम,
ढाल रहा मद मानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।

अब विश्राम करें रवि-चंद्र;
उठें नये अंकुर निस्तंद्र;
वीर, सुनाओ निज मृदुमंद्र;
कोई नई कहानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।
बरस घटा, बरसूँ मैं संग;
सरसें अवनी के सब अंग;
मिले मुझे भी कभी उमंग,
सब के साथ सयानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।

(४)

काली काली कोइल बोली—
होली—होली—होली !
हँसकर लाल लाल होंठों पर हरयाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली।
होली—होली—होली !
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोली,
मल दी ऊषा ने अंबर में दिन के मुख पर रोली।
होली—होली—होली !
रागी फूलों ने पराग से भर ली अपनी झोली,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-संपुट में घोली।
होली—होली—होली !
ऋतु ने रवि-शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली,
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन-भावना भोली ?
होली—होली—होली !
गूँज उठी खिलती कलिओं पर उड़ अलिओं की टोली,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।
होली—होली—होली !

पंडित रामनरेश त्रिपाठी

(जन्म संवत् १९४१)

त्रिपाठी जी हिन्दी-भाषा के लगनशील सेवक हैं। आप जितने प्रतिभाशाली हैं उतने ही लगनशील भी। आपकी पुस्तकें राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। प्रकृति के आप प्रेमी हैं और प्रकृति-सौन्दर्य का आपने कविताओं में पूरा चित्र उतार दिया है। भाषा-प्रवाह, वर्णन-शैली की सरलता और भावनाओं की सरसता आप के काव्य के विशेष गुण हैं।

आपने 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' नाम के तीन राष्ट्रीय भावनाओं से भरे हुए खंड-काव्य लिखे हैं। आपकी स्फुट रचनाओं का संग्रह 'मानसी' नाम से प्रकाशित हुआ है। मौलिक कविताओं की पुस्तकों के अतिरिक्त आपने 'कविता-कौमुदी' नाम से अन्य कवियों की कविताओं के अनेक सुन्दर संग्रह भी संपादित तथा प्रकाशित किए हैं। राम-चरित-मानस की विस्तृत टीका भी की है। ग्राम्य-गीतों का संग्रह भी किया है। नाटक और कहानियाँ भी लिखी हैं।

स्वतंत्र देश के नवयुवक

(१)

शक्ति-प्रदर्शन को जब कोई,
गर्वित शत्रु प्रबल दल सजकर।
या बहु वैभव देख लोभ-वश,
कोई निठुर दस्यु सीमा पर।
आकर धन जन पर पड़ता है,
निर्भय रण-दुंदुभी बजाकर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर॥

(२)

क्रुद्ध सिंह सम निकल प्रकट कर,
अतुलित भुजबल विषम पराक्रम।
युद्ध-भूमि में वे वैरी का,
दर्प दलन कर लेते हैं दम।
या स्वतंत्रता की वेदी पर,
कर देते हैं प्राण निछावर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर ॥२॥

(३)

या स्वदेश ही में जब कोई,
स्वेच्छाचारी निपट निरंकुश।
शासक राज-शक्ति से रक्षित,
लंपट लोलुप क्रूर कापुरुष।
निज कर्त्तव्य-विरुद्ध प्रजा पर,
करता है अन्याय घोरतर।

तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर !

(४)

व्यथित प्रजा के बीच वास कर,
निर्भय भावों का प्रचार कर,
सत्य-शक्ति के अवलंबन से,
शासन में निश्चित सुधार कर,
वे होते हैं हृदय-मंच पर,
या तो कारागृह के भीतर,
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर !

(५)

जाता है जब फैल देश में,
कोई विषम रोग संक्रामक,
अथवा ऊपर आ पड़ता है,
जब भीषण दुर्भिक्ष अचानक,
जब जनता पुकार उठती है,
त्राहि त्राहि स्वर से अति कातर,
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर !

(६)

वे प्राणों का मोह छोड़कर,
निशि-दिन घाम शीत सब सह कर,
धर्म-भाव से प्रेरित होकर,
भू-पर सोकर भूखे रह कर,

परम सुहृद बनकर समाज की,
सेवा में रहते हैं तत्पर,
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर!

भूख की ज्वाला

(१)

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर घर में।
मांस नहीं है निरी साँस है शेष अस्थि-पंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने का न ठिकाना।
कोई नहीं किसी का साथी अपना और बिगाना।

(२)

लाखों नहीं, करोड़ों ऐसे हैं मनुष्य दुख पाते।
जीवन भर जो जठरानल में जल-जल कर मर जाते।
हाय हाय कर लोग साँझ को निराहार सो जाते।
एक बार भी रात-दिवस में पेट नहीं भर पाते।

(३)

खाते हैं गम, और आँसुओं ही से प्यास बुझाते।
लेकर आयु विविध रोगों की हैं दिन-रात बिताते।
फटे-पुराने चिथड़ों ही से ढके किसी विध तन हैं।
कैसे सियें, सुई तागे से भी नितांत निर्धन हैं।

(४)

बड़े सवेरे से संध्या तक करके कठिन मजूरी।
सुख के बदले में पाते हैं आयु मजूर अधूरी।

चिंतित हैं, आश्चर्य-चकित हैं कृषक विकल हैं दुख से।
कौन काट लेता है उनका कौर अचानक मुख से ?

(५)

त्राहि त्राहि सब ओर मची है, व्याकुल हैं नर-नारी।
वे न सँभाल भार सकते हैं लघु जीवन का भारी।
घोर दीनता ही के कारण सद्गुण रहा न उन में।
बढ़ती ही जाती प्रवृत्ति है नित सबकी दुर्गुण में।

(६)

झूठ, दंभ, विश्वासघात, छल से पर-धन हरते हैं।
कोई भी अनीति करने में लोग नहीं डरते हैं।
सद्गुण जो मनुष्य-जीवन की उन्नति का साधक है।
उसकी ही उन्नति का अब तो पेट हुआ बाधक है।

(७)

सत्य, धैर्य्य, विश्वास, सुजनता, पौरुष, सद्गुण सारे।
पैसे-पैसे पर बिकते हैं कुटिल नीति के मारे।
नए-नए अभियोग अमूलक नित चलते रहते हैं।
निरपराध अन्याय दंड नित ही सज्जन सहते हैं।

विश्व-छवि

(१)

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद-माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है।

(२)

रत्नाकर गर्जन करता है मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये, भरा रहता है।
इस विशाल, विस्तृत, महिमामय रत्नाकर के घर के—
कोने कोने में लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर के।

(३)

निकल रहा है जलनिधि तल पर दिनकर बिंब, अधूरा।
कमला के कंचन मंदिर का मानों कांत कँगूरा।
लाने को निज पुण्यभूमि पर लक्ष्मी की असवारी।
रत्नाकर ने निर्मित कर दी स्वर्ण-सड़क अति प्यारी।

(४)

जब गँभीर तम अर्धनिशा में जग को ढक लेता है।
अंतरिक्ष की छत पर तारों को छिटका देता है।
सस्मित-वदन जगत का स्वामी मृदुगति से आता है।
तट पर खड़ा गगन गंगा के मधुर गीत गाता है।

(५)

उससे ही विमुग्ध-हो नभ में चंद्र विहँस देता है।
वृक्ष विविध पत्तों पुष्पों से तन को सज लेता है।
पक्षी हर्ष सँभाल न सकते मुग्ध चहक उठते हैं!
फूल साँस लेकर सुख की सानंद महक उठते हैं!

(६)

वन, उपवन, गिरिसानु, कुंज में मेघ बरस पड़ते हैं।
मेरा आत्म-प्रलय होता है नयन नीर झड़ते हैं।
पढ़ो लहर, तट तृण, तरु, गिरि, नभ, किरन, जलद पर प्यारी!
लिखी हुई यह मधुर कहानी विश्व-विमोहन-हारी!

इस जीवन के घन वन में

जब मैं अति विकल खड़ा था
इस जीवन के घन वन में।

अगम अपार चतुर्दिक तम था,
न थी दिशाएँ केवल भ्रम था,
साथी एक निरंतर श्रम था,
था था पथ निर्जन में,
इस जीवन के घन वन में।

आकर कौन हँस गया तम में,
अमित मिठास भर गया श्रम में,
पथ है, किंतु प्रकाश भर उठा
एक-एक रज-कन में।
इस जीवन के घन वन में।

श्रीयुत मुंशी अजमेरी

(जन्म संवत् १९३८—मृत्यु संवत् १९९५)

स्वर्गीय मुंशी अजमेरी यद्यपि बहुत प्रतिभाशाली कवि थे, फिर भी हिंदी जगत् उनके वास्तविक रूप को नहीं जान पाया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त जैसे महान कवि के साथ जीवनभर रहकर मुंशी जी काव्य-साधना करते रहे और प्रकाशन से सदा बचते रहे। फिर भी जो कुछ मुंशीजी के नाम से प्रकाशित हुआ है, वह उन्हें साहित्य-जगत् में ऊँचा स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। भाषा पर पूर्ण अधिकार, प्रवाह और प्रसाद गुण उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'चित्रांगदा' का जो पद्य-बद्ध अनुवाद मुंशी जी ने किया है वह बहुत सुंदर हुआ है। उन्होंने पत्रों का कंठा, शाही कुँगड़ा, हेमलासत्ता, गोकुलसिंह, मधुकरशाह, रामकथा, भालूराम झालूराम-संवाद आदि पुस्तकें तथा फुटकर रचनाएँ भी लिखी हैं। उनका हाल ही में स्वर्गवास हो गया। जाति के मुसलमान होते हुए भी वे संस्कृति से हिंदू जान पड़ते थे।

ताजमहल

ओ आश्चर्य अखिल अवनी के ओ समाधि-सुख के भोगी,
ओ आनन्द निरानन्दों के, ओ यमुनातट के योगी।
ओ कमनीय कला-कौशल की लीलामयी लहर के लाड़,
शिल्प-सुन्दरी की झाँकी के मञ्जु मुकुर, मर्मर के झाड़।
दीप्तिमान तू डटा हुआ है अम्बर-मध्य दिगम्बर सा,
अंतहीन-सी उज्ज्वलता के अनुपम उच्च अटंबर सा।
प्रेम-पुजारी की प्रतिमा-सा, रम्य राज-महलों का राज,
तत्कालीन मुग़ल-महिमा के सिर का मानों सुन्दर ताज!
तू असीम है, कौन कहेगा तुझको घेरे बीच घिरा ?
भवन-भूप, सुषमा-स्वरूप तू ताजमहल ही नहीं निरा!
तू अप्राप्य प्रणय के प्यासे प्रेमिक के प्रयास की पूर्ति,
तू मानवता पर मोहित उन मृदुल मनोभावों की मूर्ति—
शोकाकुल संतप्त हृदय में उथल-पुथल जो होते थे,
शाहजहाँ की सुखद-स्मृति को रुला-रुला कर रोते थे।
हृदय टूट जाने से तेरी ओर अचानक टूट पड़े;
तेरे एक-एक अणु में वे व्याप्त हुए, फिर फूट पड़े।
तेरी प्रति पाहन की पटिया है भावों से भरी हुई।
सकरुण, शांत-संयुता मानो, शोकसिंधु से तरी हुई।
नित्य नव्यता के ओ नायक, भूरि भव्यता के भंडार,
ओ उत्तमता के अधिकारी, सुषमा के सुन्दर शृंगार।
ओ गौरव गरिमा के गुम्बज, ओ मानवता के मीनार,
ओ पवित्रता के प्रिय प्रांगण, दीप्त दिव्यता के ओ द्वार।
यद्यपि मृत मुमताजमहल का है तू निर्मल निभृत निवास,
पर तुझ पर अदृश्य अंकित है अतुल आगरे का इतिहास!

सबको सुगम नहीं है तेरी सांकेतिक स्वर लिपि का ज्ञान,
कठिन और भी है कानों को भावों की भाषा का भान।
उषःकाल में बालारुण का किरण-जाल जब मिलता है,
जी की कली खोलकर तब तू अरुण कमल सा खिलता है।
ओ भावुक, तब किस भाषा में गाता तू 'परभाती' है,
ठीक-ठीक सुन-समझ नहीं वह पड़ती है, पर भाती है।
उस प्रस्फुट प्रभात में तेरा अस्फुट हृदय उभरता है,
अंतर्यामी की उपासना मूक कंठ से करता है!
मानों उन भावों को कोयल 'कू-ऊ' से करती है व्यक्त,
कर उसका अनुसरण और भी अंडज होते हैं अनुरक्त।
सुन के शब्द पवन, सुमनों के हृदय खोल धर देती है,
तब उन में वह भव्य भावना भ्रमरावलि भर देती है।
वासंतिक विकास में तेरी मनोमोहिनी मंजुल मूर्ति,
कोमल और करुण भावों के उद्गम को देती है स्फूर्ति।
लहू-लथेड़ी हुई दुपहरी साँय-साँय जब करती है,
भले-भले भवनों की आत्मा भाँय-भाँय जब करती है,
दो-दो दुखते हुए दिलों को आश्रय दे अपने उर में—
ले उनको लोरी देता है तब तू सारँग के सुर में।
है तेरा उद्देश्य—'कष्ट निज को जितना हो होने दूँ,
बेगम-बादशाह सोते हैं, उन्हें शांति से सोने दूँ।'
सहनशील तू साँझ समय में, उस अस्तंगत रवि की ओर—
देख-देख मानो कहता है—'कहाँ चले ओ क्रूर कठोर?
बस, इतनी यह अवधि और वह ऊधम, तुम हो बड़े विचित्र,
जीवन-शोष जलाते जग को, फिर भी कहलाते हो मित्र!
ओ मतलब के मित्र, सुनो, जड़-जंगम तुमसे ऊब गए,
परिणाम-स्वरूप पश्चिम के जलनिधि में तुम डूब गए।

अपने कर्मों से डूबे हो, होते हो फिर किस पर लाल !
करो स्मरण अब अखिलेश्वर का, कुछ सुधार लो अंतिम काल।"
तुझे सताया समझ सूर्य से, सूर्य-सुता यमुना चुपचाप—
शीतल जलकण-पूर्ण पवन से हरती है तेरा संताप।
फिर निर्मल जल फेंक फुहारे जब पखारते हैं पद प्रांत,
शोभित होता है संध्या में हे सुन्दर तू सुस्थिर शांत।

× × ×

वर्षा में, उड़ती हैं जिनके आगे विमल बलाकाएँ,
बरसाती हैं घोर घटाएँ, तुझ पर सलिल शलाकाएँ।
वे सीधी-तिरछी धाराएँ धोकर तेरे तन की धूल,
तुझे समुज्ज्वलता देती हैं अपनी आभा के अनुकूल।
तब संसार-सरोवर का तू उत्तम अमल-कमल अभिराम।
निज रुचिराकृति से रुचता है सुरुचिमयी सौरभ का धाम।
देती है मृदु मंद पवन जब शीतल जल सीकर ला कर,
सुप्त समाधि सिहर उठती है मानो प्रेम-पुलक पाकर।

× × ×

शरद-चाँदनी-मध्य धवल, तू धुला दूध का दिखता है !
तब राकेश रजत किरणों से, कह, तुझ पर क्या लिखता है ?
सरस सफलता, विरस विफलता, इनके घोर घात-प्रतिघात,
सुखकी साध, मिलन की महिमा, अथवा चिर वियोग की बात।
दीन मजूरों की दिनचर्या पर्यवेक्षण का प्रतिकार,
या असहायों का उत्पीड़न, बलवानों का विमल विचार।
लोक-लुटेरों की लीलाएँ, सहज साधुओं के सत्कर्म।
अथवा इलहामी ग्रन्थों के महामहिम मन्त्रों का मर्म।
कुछ भी लिखता हो सुधांशु पर यह सब अंकित है तुझमें,
यही नहीं, वह भी, जो लिखने का सामर्थ्य नहीं मुझ में।

× × ×

जय अनंत, हेमंत शिशिर में ओस-बुंद बरसाता है,
दिव्य-देह-परमेश-तुल्य तब तू निज द्युति दरसाता है।
कभी श्वेत कंबल-सा कुहरा जब तुझको ढक लेता है,
क्या जाने अव्यक्त कंठ से तब तू क्या कह देता है।
लोक-दृष्टि से बचकर कुछ क्षण शून्य-सृष्टि में आता है।
मानो सदा सब को देकर, तोष-शांति-सुख पाता है।
निर्मल नील निशाओं में नभ आकर्षित हो अपने आप।
लक्ष-लक्ष नक्षत्र-रूप निज नयनों से निहार चुपचाप,—
मानों तुझ अखंड मुद्रायुत खड़े हुए से कहता है—
"किस साधना-हेतु, ओ साधक, शीत-वात यह सहता है।"
तुझ मौनी की मधुर मूर्ति फिर उर में अंकित करता है,
रच रेखाकृति, तमो-विनाशक तारे उसमें भरता है।
पर वह चारु चित्र, तारों की उस अबाध गति के कारण,
कभी नहीं करने पाता है तेरा रम्य रूप धारण।
सभी विश्रृंखल हो जाता है, यमुना कहीं, कहीं दीवार,
कहीं सीढ़ियाँ, द्वार कहीं, तो गुंबज कहीं, कहीं मीनार।
कर न सका आकाश आज तक अंकित कभी चित्र ऐसा,
ओ अद्भुत, अब कौन बनावे अवनी पर विचित्र ऐसा।

———

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

"एक भारतीय आत्मा"

(जन्म संवत् १९४४)

'कर्मवीर' के यशस्वी और तेजस्वी संपादक पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-रूप 'एक भारतीय आत्मा' है। आपका जन्म मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद जिले के बावर ग्राम में हुआ था। प्रारंभ में आप ग्रामीण स्कूल के साधारण मास्टर थे, किंतु स्वावलंबन और स्वाभिमान की तो आप प्रारंभ से ही मूर्ति थे। फलत: धीरे-धीरे आपने साहित्यिक और राष्ट्रीय दुनिया में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया।

आपकी कविताएँ राष्ट्रीय-भावनाओं से भरी हुई, मार्मिक और अनुभूतिमय होती हैं। राष्ट्रीय कविताएँ लिखने वालों में सबसे पहले आपही का नाम लिया जाता है। आपको लोग नर्मदा-तट का गायक भी कहते हैं। आपके जीवन पर ही नहीं, आपकी कविता में भी नर्मदा नदी की छाप है। पहाड़-पहाड़ियों और पथरीली भूमि में उछलती-कूदती, लड़ती-झगड़ती-सी, तरंगमयी, भँवरमयी, यौवन-सूचक, फेनमयी, कल-कल-छल-छल, हा-हा हू-हू करने वाली नर्मदा ठंडी शक्ति की दुर्धर्षता और अजेयता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। 'एक भारतीय आत्मा' के जीवन में इन विशेषताओं को स्थान मिला है।

अभी तक आपकी कविताओं का [संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। गद्य लिखने और भाषण देने में भी पंडित जी अत्यंत पटु हैं।

वेदना-गीत से

कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
मारुत से क्यों, तरुवर कुंजों में न विलम पाते हो,
और पंछियों की तानों से जरा न टकराते हो।
टेकड़ियों के द्वार कहो, कैसे चढ़ कर आते हो ?
आते-जाते हो, या मुझ में आकर छिप जाते हो ?

अमित की मति-सी परम गँवार
आह की मिटती-सी मनुहार
पूछती है तुमसे दिलदार—

कौन देश से चले ? कौन सी मंजिल पर जाते हो ?
कसक, चुटकियों पर चढ़कर क्यों मस्तक डुलवाते हो ?
कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
क्या बीती है ? आ जाने दो उसको भी इस पार,
क्यों करते हो लहराने का भूतल में व्यापार !
चट्टानों से बनी विंध्य की टेकड़ियों के द्वार—
वायु-विनिंदित तरलाई पर तैर रहे बेकार।

छटपटाहट को यों मत मार,
पहन सागर लहरों का हार,
खोल दे कोटि कोटि हृद्द्वार,

कहाँ भटकते, लेते प्राणों को बन राग-विहाग ?
शीतल अंगारों से विश्व जलाने क्यों जाते हो ?
कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
किसके लिए छेड़ते हो अपनी यह तरल तरंग ?
किसे डुबोने को घोला है यह लहरों पर रंग ?
कोई गाहक नहीं, अरे, फिर क्यों यह सत्यानास ?
बाँस, काँस, कुस से सहते हो लहरों का उपहास ?

अरे वादक, क्यों रहा उँडेल,
खेलता आत्मघात का खेल,
उड़ाता व्यर्थ स्वरों का मेल,
यह सच है किसलिए बिना पंखों की मृदुल उड़ान,
दूर नहीं होते, माना; पर पास भी न आते हो ?
कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
मानूँ कैसे ? कि यह सभी सौभाग्य सखे, मुझ पर है,
है जो मेरे लिए, पास आने में किसका डर है ?
मेरे लिए उठेंगी आशाओं में ऐसी ध्वनियाँ,
करुणा की बूँदें, काली होंगी उनकी जीवनियाँ।
अरे, वे होंगी क्यों उस पार,
यहीं होंगी पलकों के द्वार,
पहन मेरी श्वासों के हार,
आह, गा उठे, हेमाँचल पर तेरी हुई पुकार—
बनने दे तेरी कराह को बरसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस बार—
अंतस्तल से अतल-वितल को क्यों न वेध जाते हो ?
अजी वेदना-गीत, गगन को क्यों न छेद जाते हो ?
उस दिन ? जिस दिन महानाश की धमकी सुन पाते हो,
कंपन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

बलिदान

बीज जब मिट्टी में मिल जाय, वृक्ष तब उगता है, हे मित्र
कलम की स्याही गिरती जाय पत्र पर उठता जाता चित्र।
नदी-नद सब जल के भंडार चढ़ा देते हैं अपना रक्त;
अहा तब कहीं मधुरता बूँद मेघ से पाते वर्षा-भक्त

सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञात दे चुके प्राण;
विश्व को चाहिए, उच्च विचार!
नहीं, केवल अपना बलिदान,
बिगुल बज गया, चली सब सैन्य, धरा भी होने लगी अधीर।
खाइयाँ खोदीं रिपु ने हाय, पार हों कैसे सैनिक वीर;
'पूर दें इनको मेरे शूर शरीरों से—'दे दिए शरीर।
इधर यों सेनापति ने कहा—उधर दब गए सहस्त्रों वीर।
समय पर किया शत्रु का नाश,
देश ने, आहा! पाया त्राण;
शेष वीरों ने छेड़ी तान—
अहा बलिदान, धन्य बलिदान!

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो, पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया पलटा दी प्रबल उमंगों के बल में,
लो हम तो चल दिए, नए पौधो, प्यारो आराम करो।
दो दिन की दुनिया में आए हिलो-मिलो कुछ काम करो।
पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज़ नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं जो थे बाग़ीचे जाते,
झुकी टहनियाँ तोड़ तोड़ कर बनचर भी खा जाते हैं,
शाखामृग कंधों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु, जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं।
भूले-भटके कभी गुज़रना, हम वे ही फल वाले हैं।

कोकिल, बोलो तो !

क्या गाती हो, क्यूँ रह-रह जाती हो—कोकिल, बोलो तो !
क्या लाती हो ? संदेशा किसका है—कोकिल, बोलो तो !
ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट-भर खाना,
मरने भी देते नहीं–तड़प रह जाना,
जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है,
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है,
हिमकर निराश कर गया रात भी काली;
इस समय कालिमामयी जगी क्यों आली ?
क्यूँ हूक पड़ी ? वेदना—बोझवाली सी—कोकिल, बोलो तो !
क्या लुटा ! मृदुल वैभवकी रखवाली सी–कोकिल,बोलो तो !

बन्दी सोते हैं, है घर्घर श्वासों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है—लोहेके दरवाज़ों का,
बूटों का या संतरी की आवाज़ों का,
या करते गिनने वाले हा-हा-कार,
सारी रातों हैं—एक, दो, तीन,चार !
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा !–(मधुर) क्यों गाने आई आली ?
क्या हुई बावली, अर्द्धरात्रि को चीखीं–कोकिल, बोलो तो !
किस दावानल की ज्वालाएँ हैं दीखीं–कोकिल, बोलो तो !

निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जी के घावों पर सरलामृत बरसाने,

या वायु-विटप वल्लरी चीर हठ ठाने,
दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने,
या लेने आई मम आँखों का पानी,
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी !
खा अंधकार करते वे जग-रखवाली,
क्या उनकी आभा तुझे न भाई आली ?
तुम रवि किरणों से खेल जगत को रोज़ जगाने वाली—
कोकिल, बोलो तो !
क्यों अर्धरात्रि में विश्व जगाने आई हो मतवाली—
कोकिल, बोलो तो !
दूबों के आँसू धोती, रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विंध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रांह्मड कँपाते उस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा,
जब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बे-जाने—
कोकिल, बोलो तो !
क्या तमोरात्रि पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—
कोकिल, बोलो तो !
क्या देख न सकती जंजीरों का पहना ?
हथकड़िया क्यों ? यह पारतंत्र्य का गहना !
गिट्टी पर ? अँगुलियों ने लिक्खे गान !
कोल्हू का चरखा चूँ ?—जीवन की तान।
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूँआ,
खाली करता हूँ नृपति अकड़ का कूँआ।

दिन में मत करुणा जगे, रुलाने वाली,
इसलिए रात में ग़ज़ब ढा रही आली ?
इस शांत समय में अंधकार भेद रो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो !
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो !

काली तू रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,
टोपी काली, कंबल काली,
मेरी लोह-शृंखला काली,
पहरे की हुँकृति की ब्याली,
तिस पर है गाली ! ऐ आली !
इस काले संकट-सागर पर—मरने को मदमाती—
कोकिल, बोलो तो !
अपने चमकीले गीतों को किस विधि हो तैराती—
कोकिल, बोलो तो !

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली,
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार,
तेरे गीतों उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !

देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रणभेरी !
इस हुंकृति पर अपनी कृति से, और कहो क्या कर दूँ ?—
कोकिल बोलो तो !
मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किस में भर दूँ—
कोकिल, बोलो तो !
फिर कुहू—अरे क्या बंद न होगा गाना,
यह अंधकार में मधुराई दफ़नाना !
नभ सीख चुका है कमज़ोरों को खाना,
क्यों बना रहा अपने को उसका दाना ?
तिस पर, करुणा-गाहक बंदी सोते हैं,
स्वप्नों में स्मृतियाँ श्वासों से धोते हैं।
सींकचे-रूपिणी लोहे की पाशों में,
क्या भर देगी ? बोली निंदित लाशों में,
क्या घुस जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासों के द्वारा—
कोकिल, बोलो तो !
और प्रात में हो जायेगा उलट-पुलट जग सारा—
कोकिल, बोलो तो !

बाबू जयशंकर प्रसाद

(जन्म संवत् १९४६ । मृत्यु संवत् १९९५)

आप काशी के प्रतिष्ठित दानवीर, रईस तथा संस्कृत-शिक्षा के प्रेमी बाबू देवी प्रसाद सुँघनी साहू के सुपुत्र थे। आपकी बचपन से ही साहित्य की ओर रुचि थी। आप छायावादी कविता के श्रीगणेश करने वाले माने जाते हैं। भिन्न तुकांत रचना भी सबसे पहले आपने ही लिखी थी।

कवि के रूप में प्रसाद जी का हिंदी के सभी आधुनिक कवियों से अलग और प्रतिष्ठित स्थान है। आपकी रचनाओं में नवीनता का प्रकाश तो है ही प्राचीनता की गंभीरता भी है। बुद्ध-कालीन संस्कृति का आप के जीवन और साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है और आपकी रचनाओं में प्राचीन संस्कृति का रूप बहुत आकर्षक रीति से उतरा है। कल्पना और भाव आपकी कविताओं के विशेष गुण हैं। भाषा आपकी अपने ढंग की है जो संस्कृतमयी होते हुए भी ललित और मधुर है। कुछ लोगों को आपकी कई रचनाएँ क्लिष्ट भी जान पड़ती हैं, इसका कारण कुछ तो आपकी भावनाओं की ऊँचाई, सांकेतिक शैली तथा रहस्य का अवगुंठन है और कुछ अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी, किंतु जो आपकी भावनाओं और शैली से परिचय पा लेते हैं उन्हें आपकी कविताओं में बड़ा आनंद आता है।

प्रारंभ में आपने भी कुछ व्रजभाषा की तथा कुछ प्रारंभिक काल के खड़ी बोली के कवियों की कविताओं जैसी रचनाएँ लिखी थीं, पर धीरे-धीरे आपकी शैली, भाव और भाषा ने पलटा खाया और हिन्दी-काव्य को आपने नए ही प्रकार के फूलों से सजा दिया।

आपके 'कामायनी' नामक महाकाव्य पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने आपकी मृत्यु के अनंतर मंगला-प्रसाद पुरस्कार दिया है।

आपके काव्य-ग्रंथों में 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम', 'लहर', 'झरना', 'आँसू' और 'कामायनी' आदि प्रसिद्ध हैं। कवि के अतिरिक्त आप सफल नाटक-कार, कहानी-लेखक और उपन्यासकार भी थे। केवल ४० वर्ष की आयु में ही आपकी असामयिक मृत्यु हो गई।

गीत

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आँखों में आकर, फिर
आँसू बन ढरने वाले को !

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण सा हृदय गला कर
जीवन-संध्या को नहला कर
रिक्त जलधि भरने वाले को ?

रजनी के लघु-लघु तम कन में,
जगती की ऊष्मा के वन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन में
छिप मुझ से डरने वाले को ?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या वह कँपने
देख मौन मरने वाले को।

ओ री मानस की गहराई !

ओ री मानस की गहराई !
तू सुप्त, शांत, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित-जल !
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर-चंचल—
यह विश्व बना है परछाँई।

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुंदर-सुंदर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई।
हँस, झिलमिल ही लें तारा-गन,
हँस, खिलें कुंज के सकल सुमन,
हँस, बिखरें मधु-मरंद के कन,
बन कर संसृति के नव श्रम कन;
—सब कह दें 'वह राका आई।'
हँस लें भय शोक प्रेम या रण,
हँस ले काला पट ओढ़ मरण,
हँस लें जीवन के लघु लघु क्षण,
देकर निज चुंबन के मधुकण,
नाविक अतीत की उतराई।

———

अरी वरुणा की शांत कछार !

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुंज !
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुंज !
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार !
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे संसार !
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर पार्थिव भोग-विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार।
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक संवाद, तथागत आया तेरे द्वार।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शांत।
तिमिर का हरने को दुख-भार, तेज अमिताभ, अलौकिक कांत !
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बंध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जय-घोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मंद्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चंद्र।
अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

आँसू

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में ?
हाँ ! उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

× × × ×

चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल रसीली;
मेरी करुणार्द्र-कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
वाडव-ज्वाला सोती थी इस प्रेम-सिंधु के तल में,
प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में।
नीरव मुरली, कलरव चुप, अलि-कुल थे बंद नलिन में,
कालिंदी वही प्रणय की इस तममय हृदय-पुलिन में।
छिल-छिलकर छाले फोड़े मल-मल कर मृदुल चरण से
घुल-घुल कर वह रह जाते आँसू करुणा के कण से।

याचना

१

जब प्रलय का हो समय ज्वालामुखी निज मुख खोल दे,
सागर उमड़ता आ रहा हो शक्ति-साहस बोल दे।
ग्रहगण सभी हों केन्द्र-च्युत लड़कर परस्पर भग्न हों,
उस समय भी हम हे, प्रभो ! तव पद्म-पद में लग्न हों॥

२

जब शैल के सब शृंग विद्युद्-वृन्द के आघात से,
हों गिर रहे भीषण मचाते विश्व में व्याघात से।
जब घिर रहे हों प्रलय-घन अवकाश-गत आकाश में,
तब भी प्रभो ! यह मन खिंचे तव प्रेम-धारा-पाश में।

३

जब क्रूर षड्-रिपु के कुचक्रों में पड़े यह मन कभी,
जब दुःख की ज्वालावली हो भस्म करती सुख सभी।
जब हों कृतघ्नों के कुटिल आघात विद्युत्पात से,
जब स्वार्थी दुख दे रहे अपने मलिन छलछात से॥

४

जब छोड़ कर प्रेमी तथा सन्मित्र सब संसार में,
इस घाव पर छिड़कें नमक हो दुख खड़ा आकार में।
करुणानिधे ! हों दुःख-सागर में कि हम आनंद में।
मन-मधुप हो विश्वस्त-प्रमुदित तव चरण-अरविंद में॥

५

हम हों सुमन की सेज पर या कंटकों की आड़ में,
पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में।
हम हों कहीं, इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में,
तव प्रेम-पथ में ही चलें, हे नाथ ! तव आलोक में॥

पं॰ सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(जन्म संवत् १९५३)

पं॰ सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आधुनिक कवियों में सबसे निराले हैं। इनका जन्म महिषादल-राज्य, मेदिनीपुर बंगाल में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा भी बंगाल में हुई। प्रारंभ में ये बँगला में ही कविता लिखते थे। इनकी हिंदी-रचनाओं पर भी बंगला के साहित्य और बंगाल की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। यह शेष सभी हिंदी-कवियों से सर्वथा भिन्न, निराले जान पड़ते हैं। निरालाजी छायावाद-युग के महारथियों में से एक हैं। इन्होंने कविता की भाषा, भावनाएँ और छंद सभी में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन किया है। इनकी रचनाओं में भी वेदांत के तत्त्व के दर्शन होते हैं।

हिंदी में मुक्त-छंद के प्रचारक निराला जी ही समझे जाते हैं। इन्होंने मुक्त छंदों में अनेक सुंदर रचनाएँ लिखी हैं।

इन दिनों इनकी गीत लिखने की ओर प्रवृत्ति हुई है। इन गीतों में अनेक ऐसे हैं जिनकी भावनाएँ स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आतीं—भाषा भी क्लिष्ट है। पर वास्तव में वे गंभीर और दार्शनिक

तत्वों और भावनाओं से भरे हुए हैं। इनके गीतों का एक संग्रह 'गीतिका' के नाम से प्रकाशित हुआ है। संगीत-शास्त्र में भी ये प्रवीण हैं।

इन्होंने अनामिका, परिमल, गीतिका और तुलसीदास नामक काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। अप्सरा, अलका, निरुपमा और प्रभावती नामक उपन्यास और उषा नामक नाटिका तथा इनके अतिरिक्त और विविध विषय की पुस्तकें लिखी हैं।

इसमें संदेह नहीं कि निराला जी हिंदी जगत् में आँधी की भाँति आए और कविता की प्राचीन परिपाटियों को तोड़ने-फोड़ने में निरंतर लगे रहे। इनकी कविताएँ इनके संघर्षमय जीवन के चित्र हैं, उनमें हृदय की सूक्ष्म और वेदना की भावनाओं की अनुभूति है।

बादल राग

ऐ निर्बंध !
अंध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !
ऐ स्वच्छंद !—
मंद-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित-विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट लूट लड़ने वाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्रघोष से ऐ प्रचंड !
आतंक जमाने वाले !
कंपित जंगम,—नीड़ विहंगम
ऐ न व्यथा पाने वाले !
नभ के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

× × × ×

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झरझर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित—तड़ित-गति—चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव संसार !

उथल-पुथल हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !
धँसता दलदल,
हँसता है नद खल्‌खल्‌,
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल
देख, देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल—बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे—गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय-शृंग,
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता ।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास
और मैं कान्त-कामिनी कविता ॥

तुम प्रेम और मैं शांति,
तुम सुरापान घन-अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रांति,

तुम दिन कर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान ।
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान ॥

तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि ।

तुम मृदु मानस के भाव,
और मैं मनोरंजिनी भाषा ।
तुम नन्दन-वन-घन विटप;
और मैं सुख-शीतल-तल शाखा ॥

तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया ।

तुम प्रेममयी के कंठहार,
मैं वेणी काल-नागिनी ।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह-रागिनी ॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं इन अधरों की वेणु,

तुम पथिक दूर के श्रांत
और मैं बाट-जोहती आशा ।
तुम भवसागर दुस्तार,
पार जाने की मैं अभिलाषा ॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा,
तुम शरत-काल के बाल-इंदु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा !

तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग,
मैं मृदु-गति मलय-समीर ।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम-जंजीर ॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति ॥

तुम रण-तांडव-उन्माद नृत्य,
मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि ।
तुम नाद-वेद ओंकार सार,
मैं कवि-शृंगार शिरोमणि ।
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुंद-इंदु-अरविंद शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

वृत्ति

देख चुका जो-जो आए थे
चले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब,
भले गए !
क्षण-भर की भाषा में
नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव-से कोमल शाखा में,
आए थे जो निष्ठुर कर से
मले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए !
चिंताएँ, बाधाएँ;
आती ही हैं, आएँ;
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लाएँ,
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गए !
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए !

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?
गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,

वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन,
तंत्री क्षीण—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ !—क्या गाऊँ ?
छाया है मंदिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल सरस-पराग;
गंध-मोद-मद पीकर मंद समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर !
कहाँ एक निर्गंध कुसुम उपहार,
नहीं कहीं जिसके पराग-संचार सुरभि-संसार ।।
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?

मेरे प्राणों में आओ

मेरे प्राणों में आओ !
शत शत, शिथिल, भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ !
गाने दो प्रिय, मुझे भूल कर
अपनापन—अपार जग सुंदर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती-जल नित बरसाओ !
मेरी मुक्ताएँ प्रकाश में
चमकें अपने सहज हास में,
उनके अचपल भ्रू-विलास में
लाल-रंग-रस सरसाओ !

मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव-रूप-विभा के
चिर स्वरूप पा के जाओ!

तेरे चरणों पर

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल।

जीवन के पथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल!

बाधाएँ आयें तन पर,
देख तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से,
अपलक, उर के शतदल पर,
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय—श्रम-संचित फल!

आवाहन

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर-मेखला मुंड-मालाओं से बन मन-अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !
भैरवी भेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझ से पंजा,
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !
अट्टहास-उल्लास-नृत्य का होगा जब आनंद,
विश्व की इस बीणा के टूटेंगे सब तार,
बंद हो जाएँगे ये सारे कोमल छंद,
सिंधु-राग का होगा तब अलाप,—
उत्ताल-तरंग-भग में होंगे
माँ, मृदंग के सुस्वर क्रिया-कलाप;
और देखूँगा देते ताल
कर-तल-पल्लव-दल से निर्जन वन से सभी तमाल;
निर्झर के झर झर स्वर में तू सरिगम मुझे सुना माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

श्री सुमित्रानन्दन पंत

(जन्म संवत् १९५८)

श्री सुमित्रानंदन पंत प्रकृति के उपवन के पपीहा हैं। आपकी स्वर-लहरी पर समस्त भावुक जगत् मुग्ध है। अल्मोड़ा से २५ मील उत्तर की ओर कोसानी नामक स्थान में आपका जन्म हुआ है। इस पर्वतीय और रमणीक, जन्म-स्थान ने भी आपकी रचनाओं को प्रभावित किया है। पंतजी प्रकृति के प्रेमी, छायावादी कवि हैं। सीमित वस्तुओं के घूँघट में असीम के दर्शन करना आपके हृदय का स्वभाव है। आपकी रचनाएँ इसी अनुभूति से ओत-प्रोत हैं।

खड़ी बोली के कर्कश झाड़-झंखाड़ों को साफ करके कोमल-कांत पदावली का उपवन लगाने का श्रेय पंतजी को ही प्राप्त है। इतने सरस और कोमल शब्दों का प्रयोग किसी अन्य कवि ने नहीं किया।

आपकी भावनाएँ हर समय और प्रत्येक मानव के लिए प्रिय और सत्य हैं। कला के दृष्टि-कोण से भी आपकी रचनाएँ किसी भी देश के साहित्य में आदर पा सकती हैं। पंत जो स्वाभाविक कवि हैं। सरस भावनाओं, अनुपम कल्पनाओं और कोमल कलित शब्दों का, चमत्कार आपकी रचनाओं में विशेष रूप से मिलता है।

आपने पल्लव, वीणा, ग्रंथि, गुंजन, युगांत, पल्लविनी, युगवाणी ज्योत्स्ना (नाटक) और पाँच कहानियाँ आदि ग्रंथ लिखे हैं।

नौका-विहार

(कालाकांकर में गंगा की धारा में)

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भू-तल!
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत निश्चल!
तापस बाला गंगा निर्मल शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुंदर
चंचल अंचल सा नीलांबर।

साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।
चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।

सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें बँधी, खुला लंगर।
मृदु मंद, मंद, मंथर, मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर
तिर रही, खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिंबित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल में निश्चित, प्रमन
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।
नौका से उठतीं जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर।

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक छिप पल पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता, मुग्ध-सा रुक-रुक।
अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर, क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रूरेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल;
माँ के उर पर शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप;
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग? क्या विकल कोक,उड़ता, हरने निज विरहशोक
छाया की कोकी को विलोक।
पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार।
डाँडों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार।
चाँदी के साँपों सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिच तरल सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल,सौ सौ शशि सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सोत्साह ।
ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार,
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम ।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास ।
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार ।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझ को अमरत्व दान ।

मानव

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने !

मेरे विमुग्ध-नयनों की
तुम कांत-कनी हो उज्ज्वल;
सुख के स्मिति की मृदु-रेखा,
करुणा के आँसू कोमल !

सीखा तुम से फूलों ने
मुख देख मंद मुसकाना,
तारों ने सजल-नयन हो
करुणा-किरणें बरसाना !

सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी
मृदु राग प्रणय के गाना।

पृथ्वी की प्रिय तारावलि !
जग के वसंत के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव !

मेरे मन के मधुवन में
सुखमा के शिशु ! मुसकाओ,
नव नव साँसों का सौरभ
नव मुख का सुख बरसाओ !

मैं नव नव उर का मधु पी
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबाकर
जीवन-मधु में घुल जाऊँ !

———–

परिवर्तन

(१)

अहे निष्ठुर-परिवर्तन !
तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र-फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित,स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं धनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर
वक्र-कुडल
दिङ्मंडल !

(२)

अहे दुर्जेय-विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इंद्रासन तल माथ;
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !
तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकंप,—तुम्हारे विपुल सैन्य-दल;
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टल मल
पद-दलित धरातल !

(३)

जगत् का अविरत हृत्कंपन
तुम्हारा ही भय सूचन;

निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमंत्रण!
विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल-कृमि से घुस पल पल;
तुम्हीं स्वेद-सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते वर्षोपल वन, वाञ्छित कृषिफल!
अये! सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मंडल!
नैश गगन-सा सकल,
तुम्हारा ही समाधि-स्थल।

(४)

काल का अकरुण-भृकुटि-विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु-पूर्ण इतिहास!
तुम्हारा ही इतिहास!
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर!
भूमि चूम जाते अभ्र ध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडंबर।
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों से उड़गन!
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन!
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(५)

जगत की शतर कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर ! तुम्हारे कान !
अश्रु-स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण !
अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रांति
ग्रस्त करती सुख शांति !

(६)

हाय री दुर्बल भ्रांति !—
कहाँ नश्वर जगती में शांति !
सृष्टि ही का तात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन-संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !

सांध्य वंदना

जीवन का श्रम ताप हरो, हे !
सुख सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो हे !
लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे !
जीवन का श्रम ताप हरो, हे !

उदित शुक्र अब अस्त भानु बल,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे !
जीवन का श्रम ताप हरो, हे !

सुख-दुख

देखूँ सब के उर की डाली—
किसने रे क्या-क्या चुने फूल
जग छबि-उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय-कुसुम, शूल !
किस छबि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव ?
किसने ली पिक की विरह-तान ?
किसने मधुकर का मिलन-गान ?
या फुल्ल-कुसुम या मुकुल-म्लान ?
देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल,—
सब में कुछ दुख के करुण शूल,
सुख-दुःख न कोई सका भूल !

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(जन्म संवत् १९५४)

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म ग्वालियर राज्य के शुजालपुर नामक परगने के भयाना नामक गाँव में हुआ। बाद में ये 'प्रताप' के संपादक स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ कानपुर में ही रम गए।

कवि के रूप में नवीन जी का जितना नाम और मान हैं, उससे भी अधिक शर्मा जी की राजनीतिक नेता के रूप में प्रतिष्ठा है। फिर भी कवि 'नवीन' संसार में अमर रहेगा पर राजनीतिक नेता परिस्थितियों के बदलने पर क्या होगा इसका कुछ निश्चय नहीं।

नवीन अत्यंत सरल, सहृदय और प्रतिभाशाली व्यक्ति है। इनका ओजस्वी किंतु दंभहीन, प्रेमी किंतु निर्विकार व्यक्तित्व देश-सेवा और काव्य-जगत् में समान रूप से अपना तेज प्रकट कर रहा है।

इनकी रचनाओं में अनुभूति हैं, प्रवाह है, सरसता है, सहृदयता है और नवीनता है। इन्होंने हृदय को छूने वाली, सौंदर्य का रूप खींचने वाली, देश की वेदना जाग्रत करने वाली तथा कुछ दार्शनिक रचनाएँ लिखी हैं

बहुत दिन तक ये अपनी रचनाओं को पुस्तक रूप में लाने से बचाते रहे, पर अब प्रताप कार्यालय ने इनके इस दुराग्रह को दूर कर दिया है। अब 'कुंकुम' नाम का संग्रह छप गया है।

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि,
खूब खिलने दे अधर पर दुखभरी मुसकान, रे कवि,
लिख विरह के गान;

इस झड़ी में बढ़ गई है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गई है सतत धारें मेघ-जल की;
किंतु, कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निवल की ?
तू लगा मन वेदना का आज कुछ अनुमान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

व्योम में यह ढूँढता-सा फिर रहा निशि नाथ उनको,
मेघ-तरियाँ गगन-सर में खोजती हैं उस नपुण को,
कवि, सदेही, सगुण कर दे तू सनेही चिर निगुण को,
शून्य में कर शब्द-बेधी मंत्र-शर-संधान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

नित्य-निर्गुण चित्र-पट में सगुणता की रेख भरना
है यही पुरुषार्थ नर का अलख का अभिषेक करना,
अतल से कुछ खींच लाना, शून्य में साश्रय विचरना,
यदि न यह सभाव्य तो क्यों न तड़पें प्राण, रे कवि,
लिख विरह के गान !

नेह, मानस-जात मेरा, यह चला अब मूर्त होने,
मचल उठा आज है वह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने,
तड़पता है आधिभौतिक भाव में संस्फूर्त्त होने,
आत्म-रूपाधार को वह खोजता अनजान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

प्राण-प्रिय के रूठने की क्यों मिली है सूचना यह ?
हो गई क्यों आज उनकी हिय दशा यों उन्मना यह ?
नेहदानी की विरति को हो रही क्यों व्यंजना यह ?
शिथिल दीना पड़ गई क्यों मम अतृप्त उड़ान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

तप्त-प्राणों ने निरंतर कौनसी विपदा न झेली,
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण किया है बन गई जीवन-सहेली;
आह ! क्या यों ही पड़े रह जायँगे अरमान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

आम्रवन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा,
'पी कहाँ ? मैंने तड़प कर शून्य दिङ्मंडल निहारा;
पी कहाँ ? प्यासे दृगों का है कहाँ दर्शन-सहारा ?
क्यों नहीं पहुँचा वहाँ तक निरत मेरा ध्यान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

आज इस धूमिल घड़ी में कौन यह संदेश लाया;
साँझ आई किंतु उनका राज-रथ अब तक न आया !
ढीठ मन यह पूछता है, क्यों उन्हें अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्यों नहीं आए सजन रसखान, रे कवि !
लिख विरह के गान !

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब,
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब,
चाँदनी मेरे जगत् की भ्रांति की है एक माया;
रश्मि-रेखा तो अथिर है, नित्य है घन तिमिर छाया;

ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया;
रात है मेरी, सजनि, इस भाल में नव प्रात है कब;
इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर-सागर;
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह-निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब !
मैं अँधेरे देश का हूँ चिर चिर-प्रवासी सतत चिंतित,
हृदय विभ्रम जनित आकुल अश्रु से मम पंथ सिंचित,
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हाल-विलास रंजिति,
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गान हैं सब !

विप्लव-गायन

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए !
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का—
धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य सदसद् भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए—
तारे टूक-टूक- हो जाएँ,

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

माता की छाती का अमृत-
मय पय काल-कूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे,
वे शोणित की घूँटें हो जाएँ,
एक ओर कायरता काँपे,
गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह,
अचल शिला विचलित होजाए,

और दूसरी ओर कँपा देने
वाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक
तर्जन की ध्वनि मँडराए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए!

नियम और उपनियमों के ये
बंधन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वंभर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,
शांति-दंड टूटे उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
विश्व के प्रांगण में घहराए,
नाश! नाश!! हा महानाश!!! की
प्रलयंकरी आँख खुल जाए,

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए!

"सावधान मेरी वीणा में,
चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजरावें, अंगुलियाँ
दोनों मेरी ऐंठी हैं।

कंठ रुका है महानाश का
मारक गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल
में अब क्षुब्ध-युद्ध होता है,

झाड़ और झंखाड़ दग्ध हैं—
इस ज्वलंत गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अंतर-तर से!

"कण-कण में है व्याप्त वही स्वर
रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है,
कालकूट फणि की चिंतामणि,

जीवन-ज्योति लुप्त है—अहा:
सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में इस
नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।

चकनाचूर करो जग को, गूँजे
ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अंतर-तर से!!

"दिल को मसल मसल मैं मेंहदी
रचता आया हूँ, यह देखो,
एक-एक अंगुलि-परिचालन
में नाशक तांडव को पेखो !

विश्वमूर्ति ! हट जाओ !! मम
भीम प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े होजाओगी,
नाशमात्र अवशेष रहेगा;

आज देख आया हूँ—जीवन
के सब राज़ समझ आया हूँ;
भ्रू-विलास में महानाश के
पोषक सूत्र परख आया हूँ;

जीवन-गीत भुला दो—कंठ
मिला दो मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान है
निकली मेरे अंतर-तर से ।

रुन-झुन-झुन

रुन-झुन-झुन रुनुन झुनुन रुनुन झुनुन ।
मेरे लालन की पाँजनियाँ
खनक रही मेरी आँगनियाँ;
औचक आकर धीरे-धीरे
सुन ले तू मेरी साजनियाँ !
ना जानूँ कैसे पाया है यह धन अरी पड़ोसिन सुन ।
रुन-झुन-झुन रुनुन झुनुन रुनुन झुनुन ॥
पाँजनियों की खन-खन से तन-मन में उठती झंकृतियाँ ।
ठगी ठगी-सी रह जाती हूँ लख-लख चरण अलंकृतियाँ ।

लल्ला उठ उठकर गिरता है
धूल-भरा हँसता फिरता है;
लालन की इस अस्थिरता में
थिरक रही जग की स्थिरता है,
आज विश्व की शैशवता मम आँगन आई बन निरगुन ॥
रुन-झुन-झुन रुदन झुनुन रुनुन झुनुन ॥
किलका मेरा लाल कि मेरे हिय में हुआ उजेला-सा;
रोया जरा, विश्व हो गया कि मेरे लिए अकेला-सा।
आँसू-कण बरसाते आना,
लार-तार टपकाते जाना,
मेरे घर आँगन में आली,
रुदन-हास्य का भरा खज़ाना,
मेरे स्मरण-गगन में गूँज रही है इसकी छुन-छुन-छुन।
रुन-झुन-झुन रुनुन झुनुन रुनुन झुनुन ॥
बड़ी भाग्यशाली बनी मैं, हिय हुलास, मन मस्त हुआ;
मेरा अपनापन मेरे नन्हे स्वरूप में व्यस्त हुआ।
व्यस्त हुआ अस्तित्व अलग-सा,
वह मिट गया स्वप्न के जग-सा,
आली लुट गई री मैं जब से
आया है यह कोई ठग-सा,
मुझे लूट ले चला किलकता मेरा छोटा-सा चुन मुन।
रुन-झुन-झुन रुनुन झुनुन रुनुन झुनुन ॥
अपनापन खोकर पाया है मैंने अपना रूप नया;
उसे गोद में लेकर मेरा हुआ स्वरूप अनूप नया।
एक हाथ में अभिलाषा को,
दूजे में सारी आशा को,

बाँध मुट्ठियों में वह डोले
करता सफल मातृभाषा को ।
मा-मा मुख से कहता है, पाँजनियों से बजता टुन टुन ।
रुन-भुन-भुन रुनुन भुनुन रुनुन भुनुन ॥
आज विश्व-शैशव अपनी गोदी में खिला रही हूँ मैं,
सुविगत वर्तमान मधुरस भावी को पिला रही हूँ मैं ।
शत शत संस्कारों की धारा
मेरे स्तन से बही दुधारा;
बन कर पयस्विनी करती हूँ
मैं भविष्य-निर्माण दुलारा ।
मेरे शिशु में प्रगटी मानवता की रुचिर पुरातन धुन ।
रुन-भुन-भुन रुनुन भुनुन रुनुन भुनुन ॥

राखी की सुध

बिटिया, मेरी गुड़िया रानी, कहाँ तुम्हारा तार ?
कहाँ तुम्हारी स्नेहमयी मंजुल राखी सुकुमार ?
ओ तुम कच्चे धागे वाली विहँस हुलसती बाल,
ओ तुम कुंकुम-अच्छतवाली लघु-रत्तिका विशाल;
यह श्रावणी पूर्णिमा कारागृह में आई आज,
संग लिए सावन की मोहकता का हरित समाज ।
नभ में, मेहभरे दल-बादल, धरे विविध आकार,
दौड़-दौड़ कर भूमंडल पर डाल रहे जलधार;
हहर-हहर कर लहराती बह रही वायु गंभीर,
फुहियों के मिस रिमझिम टपक रही अंबरकी पीर,
ऐसे समय ओढ़ गत संस्मृतियों का विरल दुकूल,
बरबस, कारा में, राखी पूनम आई पथ-भूल ।

बहिना, यहाँ तुम्हारा भैया निपट अरक्षित मूक,
साधन-हीन, छीन-तन, बैठा किये हृदय दो टूक,
आज, तुम्हारे कुंकुम-रोचन की स्मृति से ये प्राण,
ऐसे तड़प रहे, जैसे घायल हिरनी अज्ञान;
बनकर याद, लहराता है तव अंगुलियों का तार,
बहन, आज सुध आती है राखी की बारंबार।
उस दिन तुम आई थीं लेकर कुंकुम-अक्षत, और,
अपने हाथों कते सूत की राखी की मृदु डोर;
थाल भरे मेवे संग में थे लगे हुए तांबूल;
राखी, ये सँस्मरण बने माँ मेरे हिय के शूल;
यहाँ बनी हथकड़ियाँ राखी, साखी है संसार,
यहाँ कई बहनों के भैया बैठे हैं मन मार।
हम संक्रांति-काल के प्राणी बदा नहीं सुख-भोग,
हमें क्या पता क्या होता है स्निग्ध सुखद संयोग?
हम बिछोह के पले, खूब जाने हैं पूर्ण वियोग,
घर उजाड़ कर जेल बसाने का है हम को रोग;
फिरभी,हाँ,हाँ,फिर भी,दिल ही तो है यह अनजान,
बरबस तड़प-तड़प उट्ठा करता है यह नादान।

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे बलि-वध के सुंदर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव,
बड़े-बड़े ये शिला-खंड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास!
नीचे उपत्यका में, है जीवन पंकिल का त्रास।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुंज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बंध,
कर दे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबंध।

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'

(जन्म संवत् १६६४)

श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' का जन्म ग्वालियर राज्य के मुरार नामक स्थान में हुआ था। आपको विभिन्न प्रांतों और विभिन्न संस्कृतियों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इसलिए आपकी रचनाएँ व्यापक और उदार भावनाओं से परिपूर्ण हैं।

आपने जहाँ छायावादी और रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं, वहाँ आपकी राष्ट्रीय कविताएँ भी बड़ी ओजस्वी हैं। प्रकृति-निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम का परिचय भी आपकी रचनाओं में खूब मिलता है। आपकी आध्यात्मिक कविताएँ गंभीर होते हुए भी सरस हैं।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता है भाव और भाषा दोनों की उत्कृष्टता। अनुभूति और कल्पना दोनों ही आपकी कविताओं में पूरी गहराई और ऊँचाई तक मिलती हैं।

आपकी कविताओं में एक भी ऐसी नहीं मिलेगी जिसका हृदय अथवा आत्मा पर पतनकारी प्रभाव पड़े। 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' आपकी कला का उद्देश्य है।

आप जितने ऊँचे कवि हैं, उतने ही उत्कृष्ट नाटक-कार भी। आपका 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इसका उदाहरण है। आपका कविता-संग्रह 'जीवन-संगीत' नाम से प्रकाशित हुआ है।

विश्व-रूप

मत मर्म-व्यथा छूने, विद्युत् बन, आओ;
बन निविड़ श्याम-घन प्राणों में छा जाओ!
किरणों की उलझन क्षणिक न बनो सवेरा;
बन निशा डुबा दो छवि में जीवन मेरा।
अस्थिर जीवण-कण बन न नयन ललचाओ;
बन शांत मरण-सागर असीम लहराओ!
जो टूट पड़े क्षण में विनाश इंगित पर,
वह तारक बन मत ध्यान भंग कर जाओ;
जिसकी अंचल-छाया में सोवे त्रिभुवन,
वह अंतहीन आकाश नील बन आओ।
फिर उसी रूप से नयनों को न भुलाओ;
अभिनव अपूर्व छवि जीवन को दिखलाओ!
दर्शन-सुख की परिभाषा नई बनाओ,
लघु दृग-तारों में नहीं हृदय में आओ!
वह विश्वरूप बन आओ, मेरे, सुंदर!
जो रेखाओं का बंदी बने न पट पर;
जिसको भर रखने को तप कर जीवन भर
उर बने एक दिन अंतहीन नीलांबर
अनुभव को दृग तक ही सीमित न बनाओ;
छवि से जीवन के अणु अणु को भर जाओ
हर झांकी में विस्तृततर बनकर आओ;
जग के प्राणों की प्रतिक्षण परिधि बढ़ाओ!

वैभव

दो मुट्ठ दानों पर जीवन
भर प्राणों का रक्त सुखाया,
'वैभव !' तेरे पद-प्रहार पर
भी श्रम ने त्यौहार मनाया।

प्राणों की बाजी पर वसुधा
के आवरण कठिनतम चीरे;
तेरा कोष भरा ला ला कर
सोना, चाँदी, मोती, हीरे।

कण-कण जोड़ जोड़ कर कितने
नभ-चुंबी प्रासाद बनाए;
जीवन-रस से पत्ती-पत्ती
सींच-सींच कर बाग लगाए।

अन्न और जल-स्वेद कणों के
तप पर धरणी से वर पाए,
वे भी तेरे निर्दय संचय के
चरणों पर भेंट चढ़ाए।

तेरी कुटिल हँसी को आशा-
किरण समझ आराध्य बनाया;
अपनी आहों और आँसुओं का
काला इतिहास भुलाया।

जिसने अपने बलिदानों से
जग का स्वामी तुझे बनाया,
वंचित किया उसी को तूने
दाने-दाने को तरसाया।

आमिष दे फिर उसी वर्ग से
कुछ को अपना शस्त्र बनाया;
जटिल जाल प्रहरियों, सैनिकों,
कारागारों का फैलाया।

जिनके भोले श्रम का फल है
स्वर्ण-रजत जग का सब संचय,
उनके ईमानों का इनके
कुछ टुकड़ों पर करता तू क्रय!

उनसे रुद्ध मार्ग पर, लेकर
उर में आग, नयन में पानी—
बंधु उन्हीं के खड़े! विवशता
वश-अभाव की करुण कहानी!

संचालन करते हैं सारे
शासन-चक्रों का कर तेरे;
अपने को बंदी कर लेता
है यह जग इंगित पर तेरे।

ज्ञान और विज्ञान चूम पद-
रज तेरी कृतार्थ होते हैं;
कला और साहित्य भ्रकुटि को
देख तेज साहस खोते हैं;

स्वर्ण-पालने में जब तेरी
रमणी से शिशु तृप्त न होता,
रोटी पर पय-विक्रय करने
आ निर्धन माँ का मन रोता!

करुणा की जब प्यास जागती
क्रूर मनोरंजन के उर में,

अश्रु अभाव-ग्रस्त नारी के
विकते तेरे अभिनयपुर में ।
तेरी लिप्सा-मुद्रा में बँध
विश्व-हृदय तेरे घर आवे;
जीवन का प्रत्येक सत्य, शिव,
सुंदर अपना मोल बतावे ।
संचय का उन्माद अथक,
शोषण की लोलुपता भीषण है,
मानो, तेरे क्रय-विक्रय का
विषय चराचर का कण-कण है ।
तृप्त न हो तू, चाहे तेरे संचय
में सब वायु समावे—
श्वास-श्वास पर मुद्रा देकर
हर जीने वाला जी पावे ।
औरों की दुर्बलताओं पर—
अज्ञानों पर जीने वाले !
चिर-अतृप्त, संचय के मद के
पल-पल प्याले पीने वाले !
देख, विश्व के शोषित भी अब
अपनी आँखें खोल रहे हैं;
अनुभव, ज्ञान, संगठन की
उद्बोधक वाणी बोल रहे हैं !
इधर प्रतिक्षण-आडम्बर में
बंधन में तू जकड़ा जाता;
अपने हाथों आत्म-नाश के
साधन है अविराम जुटाता ।

धीरे-धीरे युग-परिवर्तन
की आहट आती जाती है;
गहन घटा-सी क्षितिज-पटल पर
घिर-घिर कर छाती जाती है ।
क्या अगले तूफ़ानों में तू
अपना भार सँभाल सकेगा ?
एकाकी असहाय नाश की
वेला कब तक टाल सकेगा ?
तेरे सिंहासन के नीचे
कुचले जाने वाले जागे !
वे भी बढ़ना चाह रहे हैं
अब तो जीवन-पथ पर आगे !
उनके मुक्ति-गीत के स्वर में
अपना हृदय मिलाएगा तू—
या उत्कट युग के प्रवाह को
रोक स्वयं बह जाएगा तू।

कुछ का कुछ

घर-घर गाने चली भक्ति जब
गिरि की दृढ़ता का गुण-गान,
उसी रात, उर चीर, प्रेम की
गंगा फूट पड़ी गतिमान;
गायक झुँझला जाता है,
हाय, युगों के संयत ! क्यों तू
पल भर में बह जाता है।

लिखा महानद-महासिंधु के
महामिलन का ज्योंही गान,
टेढ़ी-मेढ़ी विकल पंक्तियाँ
विरह-गीत बन गईं अजान।
कवि कुंठित हो जाता है।
ऐ आनंद, वेदना में क्यों
तू लय होता जाता है?
अंकित करने चली तूलिका
ज्योंही विस्तृत नील गगन,
किसी नयन का लघु तारा खिंच
गया चित्रपट पर तत्क्षण;
चित्रकार चकराता है।
ऐ असीम, क्यों तू सीमा में
प्रतिपल बँधता जाता है।

तीन-कलाधर

१

अंधा-गायक

नीरव खँजरी लिए गोद में तुम इस राह किनारे,
तरु के तले, टाट पर बैठे रहते हो मन मारे।
सहसा कभी नाच उठती हैं आते ही प्रियतम की याद—
खँजरी पर उँगलियाँ, कंठ में तानें, ओठों पर आह्लाद।
नभ की ओर उठाकर जब ये पलकें—पुतलीहीन,
आत्म-निवेदन-सा करते हो होकर तुम तल्लीन!
उमड़-उमड़ पड़ते हैं स्वर से प्राणों के मद के प्याले,
ठिठक बटोही चित्र-लिखें से रह जाते सुनने वाले।

केवल तुम्हीं देख पाते हो उर की आँखों से उर में,
स्वर की नभ-चुंबी डोरों से उतर समुद अंतःपुर में।
कितनी सुरभि, सुधा-मधु कितना, कितनी छवि, कितना संगीत,
कितना सुख, कितनी मादकता, कितना स्नेह, प्रकाश, प्रतीति,
इन छोटे-से प्राणों में 'प्रिय' एक साथ भर जाते हैं।
तरु के तले बटोही केवल एक गान सुन पाते हैं।
त्रिभुवन का आलोक तुम्हारे अंतर में भर जाता है।
अतः बाहरी जग में तुमको तिमिर शेष रह जाता है।

२

मूक चित्रकार

उषा, तारिका, इन्द्रधनुष में, नीरव लहराते जल में,
कहता है कुछ चन्द्र-किरण-में, कुछ नभ में, कुछ बादल में।
फूलों के रंगीन मौन में मंद स्मित भाषा बन कर,
उर के अनुभव-सा धीरे से खिलता है जो चिर-सुंदर।
उसी भुवन नायक की भाषा—मौन, तुम्हारी है भाषा,
तुम रंगीन विश्व के राजा नीरव-जगती की आशा।

× × × ×

नयनों के नंदन-वन में, हे चित्रकार, भरमा कर,
रख लेते हो त्रिभुवन की भाषा को मूक बनाकर।

× × × ×

जहाँ नहीं झंकार स्वरों की शब्दों का विस्तार नहीं।
रंगों का संसार नहीं रेखाओं का आकार नहीं।
वहीं इन्हीं नयनों में छवि बन हो उठता है व्यक्त अज्ञान,
यह युग-युग का मूक हृदय, ये जन्म जन्म के नीरव प्राण।

× × × ×

पट पर तो कभी कभी तुम कर पाते हो छवि-अंकन,
छवि ही बन गया तुम्हारी पलकों में सारा जीवन।

× × × ×

'अनुभूति, न तुम खोते हो कहने सुनने में सारी,
बस हृदय समझ लेता है भाषा रंगीन तुम्हारी।
कब 'अपनी बात' तुम्हारी रख पाता 'मौन' छिपाकर!
कर देते व्यक्त 'हृदय' तुम पुतली में चित्र बनाकर।

३

बधिर कवि

भ्रांत बना रहता श्रवणों के कारण यह जग सारा है,
श्रवण-शून्यता ही साधक का सबसे सरस सहारा है।
श्रवण मूँद, तन्मय हो, विधि ने किया एक सौंदर्य-सृजन,
वही विकल वसुधा पर उतरा मधुमय हृदय तुम्हारा बन।

× × × ×

उस तल्लीन साधना को ले जब से विधि से तुमने दान,
कस अनंत अज्ञात पंथ पर प्रथम चरण रख दिया अजान।
जीवन में सौंदर्य-पिपासा, प्राणों में अक्षय संगीत,
उर में युग-निर्माण-भावना, नयनों में आदर्श पुनीत।
अधरों में मधु लिए चले जाते हो हर्षोत्फुल्ल वदन।
'अलख' लोकवासी प्रिय के पुर के पथ पर अविरत प्रतिक्षण।

× × × ×

'विधि-निषेध के बंधन, जग के व्यंग्य कहाँ, उपहास कहाँ,
'तानों' की तानें सुनने का समय कहाँ अवकाश कहाँ?
निज पथ पर चलते रहते हो मिला तुम्हें गति का 'निर्वाण'
दूर देश के अथक पथिक हे कवि, हे अद्भुत, हे अनजान!

पदक्षेप में अगणित त्रुटियाँ गिनते रहते हैं रज-कण,
पर तुम चलते ही जाते हो पथ पर पागल से प्रतिक्षण।
जग के कलुषित कोलाहल में सदा सुरक्षित है 'सुंदर',
श्रवणों पर पट डाल, हृदय में छिपा रखा प्रियतम का स्वर
वही अमर स्वर गूँज रहा है आदि काल से प्राणों में,
अतः 'शून्य' अनुभव करते हो मर्त्य जगत् के गानों में।

अनुरोध

जीवन-पथ की अमिट अमावस
बने निमिष में स्वर्ग-समान;
बिखरा दो उदार अधरों में
किरणों की उज्ज्वल मुसकान

एक अनिंद्य रूप की ज्वाला,
देवि, जला दो त्रिभुवन में,
जिसमें अशिव, असत्य, असुंदर;
हो सब भस्म एक क्षण में।

रँग दो मेरे स्वप्न, सजनि, सब
जीवन-मरण अरुण कर दो—
जन्म-जन्म का शून्य पात्र यह
आज बूँद भर में भर दो।

जीवन-दीप

जिसकी एक झलक पातीं तो
रवि-शशि की पलकें झुक जातीं,
पूर्ण पयोनिधि की मादकता
मधु की दो लघु बूँदें पातीं,

बिखरी वीणाएँ अम्बर में
महामिलन का स्वर भर आतीं,
एक एक शतदल के उर में
लाख-लाख आँखें खुल जातीं,
वही प्रकाश, इसी में छिप कर,
चुपके से जब देते हो भर,
मेरा लघुतम जीवन-दीपक
कह उठता है विस्मित हो कर—
क्या इसलिए कि फैला दूँ मैं
कण-कण में प्रकाश की प्यास,
लघुतम स्नेह-पात्र में, प्रियतम,
भर देते हो परम प्रकाश।

जागो

जागो जागो हे अनजान !
हे अनजान, हे नादान !
जागो जागो हे अनजान !
देख देख सोने की कड़ियाँ,
मत समझो वैभव की लड़ियाँ,
भोले बंदी, खोलो अँखियाँ,
आखिर हैं ये भी हथकड़ियाँ,
बंधन है जिनकी पहचान !
जागो जागो हे अनजान !
हे अनजान, हे नादान !

श्री महादेवी वर्मा एम॰ ए॰

(जन्म संवत् १९६४)

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संयुक्तप्रान्त के फ़र्रुखाबाद नामक स्थान में हुआ । बचपन की शिक्षा मध्य-भारत में तथा शेष संयुक्त-प्रान्त में हुई ।

आप आधुनिक कवियों में करुणा और अनुभूति-प्रधान रचनाएँ लिखने में बहुत ऊँचा स्थान रखती हैं । आपकी रचनाएँ पहले निराशा की भावना से भरी हुई होती थीं किन्तु अब आपने जीवन को अधिक विस्तृत और गम्भीर रूप में देखा है और दुःख में भी सुख का अनुभव करती हैं ।

आपकी रचनाओं में दीपक की तरह अविराम जलते रहने की आत्म-बलिदान की भावना भरी हुई है ।

आपकी कविताएँ रहस्यवादी भी और छायावादी भी होती हैं । आज-कल आपने संगीत-मय गीत लिखना प्रारंभ किया है, जो बहुत सरस ओर सुंदर हैं । आप अच्छी चित्रकार भी हैं ।

रश्मि

चुभते ही तेरा अरुण बान,
वहते कन-कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान !
इन कनक-रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग;
बुद्बुद् से बह चलते अपार
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख की कुहर-म्लान !

नव कुंद-कुसुम से मेघ-पुंज
बन गए इंद्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-बिंदु नचाती तरलप्राण;
धो स्वर्णप्रात में तिमिरगात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान !

सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीरपरियाँ विहार,
गीली केसर-मद भूम भूम
पीते तितली के नव कुमार;
मर्मर का मधुसंगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख,
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार;

अधखुले दृगों के कंजकोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार;
रँग रहा हृदय ले अश्रुहास
वह चतुर चितेरा सुधिविहान !

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव में अहो सूखे सुमन,
हास्य करता था, खिलाता अंक में तुझको पवन !
खिल गया जब पूर्ण तू मंजुल सुकोमल पुष्पवर,
लुब्ध मधु के हेतु मँडराने लगे आने भ्रमर !
स्निग्ध किरणें चन्द्र की तुझको हँसाती थीं सदा,
रात तुझ पर वारती थी मोतियों की संपदा !
लोरियाँ गा कर मधुप निद्रा विवश करते तुझे,
यत्न माली का रहा आनन्द से भरता तुझे !
कर रहा अठखेलियाँ इतरा सदा उद्यान में,
अन्त का यह दृश्य आया था कभी क्या ध्यान में ?
सो रहा तू अब धरा पर शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं मुख मंजु मुरझाया हुआ।
आज तुझको देख कर चाहक भ्रमर धाता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर प्रात बरसाता नहीं !
जिस पवन ने अंक में ले प्यार था तुझको किया;
तीव्र झोंके से सुला उसने तुझे भू पर दिया ॥
कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन,
किंतु रोता कौन है तेरे लिए दानी सुमन ?
मत व्यथित हो फूल ! किस को सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया है यहाँ करतार ने !

विश्व में है फूल तू सबके हृदय भाता रहा,
दान कर सर्वस्व फिर भी हाय हर्षाता रहा!
जब न तेरी ही दशा पर दुख हुआ संसार को,
कौन रोएगा सुमन! हम से मनुज निस्सार को?

गा लेने दो

इस जादूगरनी वीणा पर
गा लेने दो क्षण भर गायक!
पल भर ही गाया चातक ने
रोम रोम में प्यास-प्यास भर;
काँप उठा आकुल सा अग जग,
सिहर गया तारोंमय अंबर;
भर आया घन का उर गायक!
क्षण भर ही गाया फूलों ने
दृग में जल अधरों में स्मित धर!
लघु उर के अनन्त सौरभ से
कर डाला यह पथ नन्दन चिर;
पाया चिर जीवन झर गायक!
एक निमिष गाया दीपक ने
ज्वाला का हँस आलिंगन कर;
उस लघु पल से गर्वित है तू
लघु रजकण आभा का सागर,
दिव उस पर न्यौछावर गायक!
एक घड़ी गा लूँ प्रिय मैं भी
मधुर वेदना से भर अंतर;

दुख हो सुखमय सुख हो दुखमय,
उपल बनें पुलकित से निर्झर;
मरु हो जावे उर्वर गायक!

मैं

शलभ मैं शापमय वर हूँ!
किसी का दीप निष्ठुर हूँ!
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार-माला;
ज्वाल अक्षय कोष सी
अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुंदर हूँ!
नयन में रह किंतु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी;
प्राण में कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि-समाधि होगी;
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मंदिर हूँ।
हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल;
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ!
कौन आया था न जाना
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने;
रात के उर में दिवस की चाह रहूँ ! काश

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा;
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा;
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ!

दीपक जल

मधुर मधुर मेरे दीपक जल
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल;
प्रियतम का पथ आलोकित कर!
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन;
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल!
पुलक पुलक मेरे दीपक जल!
सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझ से ज्वाला-कण;
विश्वशलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल!'
सिहर सिहर मेरे दीपक जल!
जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता
विद्युत् ले घिरता है बादल!
विहँस विहँस मेरे दीपक जल!
द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;

वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बंदी है तापों की हलचल !

बिखर बिखर मेरे दीपक जल !
मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किए हूँ;
अपनी मृदु पलकों से चंचल !

सहज सहज मेरे दीपक जल !
सीमा ही लघुता का बंधन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल

सजल सजल मेरे दीपक जल !
तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरंतर;
तम के अणु अणु में विद्युत् सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल सरल मेरे दीपक जल !
तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

तुम मुझ में प्रिय !

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या !
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति;
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या !

तेरा मुख साहस अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जाग्रति वह नींद स्वप्नमय,
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !

तेरा अधर विचुंबित प्याला,
तेरी ही स्मितमिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी !
देतेहो मधुमय विषमय क्या ?

रोम रोम में नन्दन पुलकित,
साँस साँस में जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित,
मुझ में नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,

भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?

चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं हूँ स्वरसंगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

आ बसंत रजनी

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणीबंधन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसंत-रजनी !

मर्मर की सुमधुर नूपुरध्वनि,
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि,
भर पदगति में अलस तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से सजनी !
विहँसती आ वसंत-रजनी !

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि,
मलयानिल का चल दुकूल अलि !
घिर छाया-सी श्याम, विश्व को
आ अभिसार बनी !
सकुचती आ वसंत-रजनी !

सिहर सिहर उठता सरिता-उर,
खुल खुल पड़ते सुमन सुधा-भर,
मचल मचल आते पल फिर फिर,
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसंत-रजनी !

———

श्री सियारामशरण गुप्त

(जन्म संवत १९५२)

बाबू सियारामशरण गुप्त मैथिलीशरण जी के छोटे भाई हैं। आपने भी काव्य-जगत् में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना लिया है। आप स्वयं बहुत सरल और निच्छल प्रकृति के मनुष्य हैं, आपकी कविताएँ भी सरल, स्पष्ट और हृदय को छूने वाली होती हैं। भावनाओं, भाषा, छंद, और शैली में आप अन्य कवियों से भिन्न हैं, मौलिक हैं।

कौटुंबिक और सांसारिक संबन्धों का बहुत ही मार्मिक वर्णन आप की रचनाओं में मिलता है। इस दिशा में हिंदी का कोई भी वर्तमान कवि आपको नहीं पाता। आध्यात्मिक भावनाओं से भरी हुई कविताएँ भी आपने लिखी हैं, पर उनकी कल्पना इतनी जटिल नहीं कि सर्व साधारण को आनन्द न आवे। करुण-रस का परिपाक तो आपकी कविताओं में खूब हुआ है।

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। आपने कविता, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास सभी कुछ लिखा है। आपकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं—

काव्य—मौर्य-विजय, अनाथ, आर्द्रा, दूर्वा-दल, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, दूरागत गान।

कहानियाँ—कोटर, कुटीर, मानुषी।

पन्यास—गोद।

उनाटक—पुण्य-पर्व।

प्रयाणोन्मुखी

जब उस दिवस
कल माँ ने दीनता-पूर्वक, विवश,
डूब गुरु—गंभीर अतल—स्नेह में,
था मुझे भेजा यहाँ इस गेह में,
अश्रु तब जो इन दृगों से थे चुए,
जान पड़ते हैं नहीं सूखे हुए
आज भी वे । आ यहाँ इस धाम में,
शक्ति-भर संलग्न रह निज काम में,
जो किया है, ज्ञात होता है अपूर्ण,
और चलना पड़ रहा इस भाँति तूर्ण।
कार्य शत-शत आज मेरी ओर ताक,
ले रहे अंतिम विदा होकर अवाक ।
बस, यही संताप लेकर मैं चली ।
यदि किसी आमोद से हृदय-स्थली
पूर्ण विह्वल हो उठी हो एक बार,
तो उसी आनन्द का पुण्योपहार
आज हो माता धरित्री के निमित्त ।
एक क्षण को भी कहीं वह मंजु वित्त ।
स्वजन-परिजन के अतुल उल्लास में
डूब कर छा जाय निखिलाकाश में,
तो सभी कुछ आज पा जाऊँ अभी;
प्राप्य अपना साथ ले जाऊँ सभी ।
याद आता है नहीं, कब जान कर
दुख किसी को है दिया हठ ठानकर ।

हो गई होंगी तदपि त्रुटियाँ अनेक;
भान भी जिनका नहीं मन में कुछेक।
उन प्रमादों के कुटिल-कंटक कड़े
गेह में यदि हों यहाँ फैले पड़े,
साथ ही मेरे सभी जल जाँय वे;
बाद मेरे, फिर न चुभने पांय वे
पूज्य स्वजनों के मृदुल हृद्धाम में;
हों न फिर पीड़क किसी भी काम में।
कौन जाने, किस नगर, किस गेह में,
लालिता माता-पिता के स्नेह में,
भाग्यवंती रूपसी वह है कहां,
आयगी मेरे अनंतर जो यहाँ;
हृदय-धन का हृदय हरषाती हुई,
दीप्तिमय नव-दीप्ति बरसाती हुई।
चाहती हूँ, तू सुखी हो हे बहन!
शोक यदि छा जाय इस घर में गहन,
तो उसे तू छिन्न कर देगी स्वयं;
गुप्त तम भी शीघ्र हर लेगी स्वयं।
आज स्वामी आयँगे अब जिस समय,
त्याग कर संपूर्ण चिंता, क्लेश, भय,
मौन रह, कुछ दूसरे ही भाव से
उन पदों पर मैं पड़ूँगी चाव से
आज का वह स्पर्श मेरा हो न लीन,
आज के ही दिन,—रहे वह चिर नवीन!
वे न जान सकें, तदपि होकर अभंग,
वह सदा सेवन करे वह पुण्य संग।

यदि किसी मधु-मास के गुंजार में,
सजल-सावन के सरस संचार में,
जाग वह सहसा उन्हें कर दे विकल,
विचल से हो जायँ बस, वे एक पल;
हे बहन, तू तो क्षमा करना मुझे;
सहन करना ही पड़ेगा यह तुझे !
किस लिए थे आज इतने वैद्यजन;
पड़ गया अवसन्न जब सब तन-बदन ?
अब सभी के सामने ही छोड़ लाज,
रो रहे हो किस लिए हे नाथ, आज ?
चल चुकी हूँ; कोटि-कोटि प्रणाम है,
रूँध गया है कंठ, पूर्ण विराम है।

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बंधन में।
फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार-बार इस अंध-कूप में
इधर-उधर टकराता हूँ।

ऊपर नीचे तम ही तम है,
बंधन है अवलंब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहाँ !!

काँप रहा हूँ, भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ?—यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!

भगवन् ! हाय ! बचा लो अब तो,
तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरंत निमग्न नीर में
आर्तनाद करके तब तक।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा;
बना रहूं तो क्यों न यहीं ?

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वलतर जीवन लेकर;
तुम से उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

शंखनाद

मृत्युंजय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज;
ओ मंगलमय, पूर्ण, सदाशिव,
रुद्र-रूप धर ले तू आज !

चिर-निद्रित भी जाग उठें हम,
कर दे तू ऐसी हुंकार;
मद-मत्तों का मद उतार दे
दुर्धर, तेरा दंड-प्रहार।
हम अंधे भी देख सकें कुछ,
धधका दे प्रलय-ज्वाला;
उसमें पड़कर भस्म-शेष हो
है जो जड़ जर्जर निस्सार।
यह मृत-शांति असह्य हो उठी,
छिन्न इसे कर दे तू आज;
मृत्युंजय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज!
ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे इस को कुलिश-कठोर;
विचलित कर न सके कोई भी
झंझा की दारुण झकझोर।
सिर के ऊपर के प्रहार सब
सुमन-समूह-समान झड़ें;
पैरों के नीचे के काँटे
मृदु-मृणाल से जान पड़ें।
भय के दीप्तानल में धँसकर
उसे बुझा दें पैरों से;
छाती खोल, खुले में अड़कर
विपदाओं के साथ लड़ें।
तेरा सुदृढ़ कवच पहने हम
घूम सकें चाहे जिस ओर;

ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे हमको कुलिश-कठोर।
ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज सह्य हमको हो जाय;
तेरे प्रलय-घनों की धारा
निर्मल कर हमको धो जाय।
अशनि-पात में निर्घोषित हो,
विजय-घोष इस जीवन का;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय,
हो उत्थान-पतन तन का।
बंधन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का,
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का।
निजता की संकीर्ण क्षुद्रता
तेरे सुविपुल में खो जाय;
ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज-सह्य हमको हो जाय।
ओ कृतांत, हमको भी दे जा
निज कृतांतता का कुछ अंश;
नई सृष्टि के नवोल्लास में
फूट पड़े तेरा विभ्रंश।
नव-भूखंड अमृत के घट-सा
दे ऊपर की ओर उछाल—
सागर का अतस्तल मथ कर
तेरे विप्लव का भूचाल।

जीर्ण-शीर्णता के दुर्गों को,
कुसंस्कार के स्तूपों को
ढा दे एक साथ ही उठकर,
दुर्जय, तेरा क्रोध-कराल।
कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
हो यदि उसके पास न ध्वंस;
ओ कृतांत, हमको भी दे जा
निज कृतांतता का कुछ अंश।
ओ भैरव, कवि की वाणी का
मृदु माधुर्य्य लजा दे आज;
वंशी के ओठों पर अपना
निर्मम शंख बजा दे आज!
नभ को छूकर दूर दूर तक
गूँज उठे तेरा जय-नाद;
घर के भीतर छिपे पड़े जो
बाहर निकल पड़ें साह्लाद।
तिमिर-सिंधु में कूद तैर कर
सुप्रभात-से उठ आवें,
निखिल संकटों के भीतर भी
पावें तेरा पुण्य-प्रसाद।
जीवन-रण के योग्य हमारा
निर्भय साज सजा दे आज,
ओ भैरव, कवि की वाणी में
निर्मम शंख बजा दे आज!

———

यात्री

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं ?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं ?
कुटिल कँटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़ कर मेरा
उलझ उलझ जाता है, इसको
कहाँ कहाँ सुलझाऊँ मैं ?
कहीं धँसी है धरा गर्त्त में,
कहीं चढ़ी है टीलों पर;
मुक्त विहग-सा उड़ जाऊँ जो
पंख कहाँ से लाऊँ मैं ?

(२)

पंख कहाँ से लाऊँ मैं !
अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं
क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?
उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूँ;
इन शतशत काँटों में बिंध कर
लक्ष-लाभ निज पाऊँ मैं
गह्वर टीले इधर-उधर हैं,
मुझको पथ देने को ही;
अपने इन पद-चिह्नों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं !
कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं ।

श्री भगवतीचरण वर्मा

(जन्म संवत् १६६०)

श्री भगवतीचरण वर्मा का जन्मस्थान संयुक्तप्रान्त के उन्नाव ज़िले का शफीपुर नामक स्थान है। ये छायावादी कवियों में अनुभूति-प्रधान और स्पष्ट रचनाएँ लिखने में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। इनकी कविताओं में असाधारण ओज, रसानुभूति और प्रभाव रहता है। भाषा सरल और बामुहावरा होती है। कल्पनाएँ क्लिष्ट नहीं होतीं। भावनाएँ हृदय को बेचैन कर देने वाली होती हैं। संगीत से बचपन ही से इनको प्रेम रहा है, ये कविता-पाठ भी बहुत मधुर और आकर्षक ढंग से करते हैं। इनकी कविताओं की शब्द-रचना ललित और संगीतमय होती है। इन्होंने गीत भी लिखे हैं।

इनकी रचनाएँ आध्यात्मिक अधिक नहीं हैं। वे संसार के, मनुष्य-जीवन के सुख-दुख, उतार-चढ़ावों से भरी हुई हैं। यही कारण है कि इनकी रचनाएँ लोगों को बहुत पसंद आती हैं।

कवि के साथ ही ये कुशल कहानी-लेखक और उपन्यासकार भी हैं।

'प्रेम-संगीत' के अतिरिक्त इनके दो और ग्रंथ—'मधुकण' नामक कविता-संग्रह तथा 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास—प्रकाशित हुए हैं।

हिंदू

(१)

तुम विनाश के लक्ष्य, पतन के कलुषित जीवन;
तुम कलंक के अंक, अवनि के पाप पुरातन!
तुम जड़ता के दास, रुदन है सारा साहस!
अरे, भूमि पर पड़े हुए हो कायर परबस।
ऐ जीवन के व्यंग कहाँ है वह गौरव, वह मान।
मिटने वाले मिटना ही है क्या दर्शन का ज्ञान?

तुम्हारी सहन-शीलता और
तुम्हारा महत् आत्म-बलिदान,
तुम्हारा धर्म, कर्म, आचार,
तुम्हारी कला, तुम्हारा ज्ञान—
अरे कायर! मिथ्या आलाप—
स्वयं करते अपना अपमान!

अपने ही को धोखा देना, यही असंभव बात,
अपने ही हाथों से अपना तुम करते हो घात।

(२)

तुम ममत्व की मूर्ति, ब्रह्म के सदा उपासक,
निज इच्छा की पूर्ति, वासना के तुम पातक;
भेद-भाव के दास, धर्म के अविकल साधक;
विधवाओं के काल और गायों के पालक—
पशुओं पर है दया, मनुष्यों पर है अत्याचार!
व्यंग-मात्र है अरे पतित यह सब तेरा आचार!

अरे ये इतने कोटि अछूत,
तुम्हारे बे-कौड़ी के दास!

दूर है छूने की ही बात
पाप है आना इनका पास
किंतु, फिर भी हो सज्जन-श्रेष्ठ,
अरे पापी कैसा विश्वास ?

"दूषितांग को काट फेंकना" मत करना उपचार—
मिटने वाले मिटने का है बस इतना ही सार।

(३)

अरे तपस्वी ! आज कलेवर है आडंबर;
अरे मनस्वी ! आज बना मन तृष्णा का घर;
अरे यशस्वी ! आज हुआ यश घोर निरादर;
मिटने वाले ! काल-चक्र का कैसा चक्कर ?
फिर भी तुम जीवित हो अब तक यही अनोखी बात !
पुण्य पूर्वजों का है, पर तुम गिरते हो दिन रात।

पाप के प्याले में दो बूँद
अभी कम हैं, तुम सम्हलो आज,
प्रकृति का परिवर्तन है सार,
बिगड़ते बनते हैं सब साज;
परिस्थितियों के है प्रतिकूल
समय से पीछे हीन समाज।

कल समाज के नियम श्रेष्ठ थे किंतु आज निस्सार,
सदा परिस्थिति के चक्कर का परिवर्तन आधार !

(४)

रोने वाले ! व्यंग-मात्र है सारा रोदन,
सोने वाले ! यहाँ क्षणिक है छोटा जीवन;
खोने वाले ! शेष रहा केवल अपनापन;
'अपनापन' क्या कहा ? नहीं इस जग का बंधन।

अपनापन ! अपनापन किसका ? सोचो ज़रा गुलाम !
अपनेपन पर दावा करना है मनुष्य का काम ।
किंतु तुम हो पशुओं से हीन,
तुम्हारा नित होता है ह्रास,
सदा अविकल हिंसा के लक्ष्य,
अहिंसा पर कैसा विश्वास !
पाप है रक्त-पात का नाम
अरे तुम कायरता के दास ।
बर्बरता है घृणित, सदा तुम रोते रहे निराश;
अरे कला के दास कला ही कर देती है नाश ।

(५)

जीवित है संसार आत्म-बल से भुज-बल से,
लड़ना ही है इष्ट परिस्थिति चक्र प्रबल से,
सकल विश्व है युक्त नीति से बल से छल से,
साहस ही बस पार पा सकेगा रिपु-दल से !
अरे भिखारी सबल लुटेरों से भिक्षा की चाह !
ऐ गीता के रचने वाले यही तुम्हारी थाह !
मूर्ख, हत-बुद्धि निपट अनजान
भ्रांति का यह कैसा बंधन !
मिटा देगा सारा अस्तित्व
तुम्हारा घोर भयानक पतन !
उठो, सम्हलो, तुम बनो मनुष्य
व्यर्थ है व्यर्थ तुम्हारा रुदन !
इतना रखना याद तुम्हारा जीवन ही है भार—
अरे हिंदुओ आँखें खोलो बढ़ता है संसार !

दीवानों का संसार

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;
आए बन कर उल्लास अभी
आँसू बन कर बह चले अभी।
सब कहते ही रह गए, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले?

किस ओर चले? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिए चले;
जग से उसका कुछ लिए चले,
जग को अपना कुछ दिए चले
दो बात कहीं, दो बात सुनीं!
कुछ हँसे और फिर कुछ रोए
छल कर सुख-दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिए चले!

हम भिखमंगों की दुनिया में
स्वच्छंद लुटाकर प्यार चले;
हम एक निशानी सी उर पर
ले असफलता का भार चले;
हम मान-रहित, अपमान-रहित
जी भर कर खुल कर खेल चुके;
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाज़ी हार चले!

हम भला बुरा सब भूल चुके,
नत-मस्तक हो मुख मोड़ चले;
अभिशाप उठा कर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,
अब अपना और पराया क्या !
आबाद रहें रुकने वाले !
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं
हम अपने बंधन तोड़ चले !

मेरी आग

(१)

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बनाकर ला रक्खे हैं चुन-चुनकर अपने अरमान।
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान;
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान।
अभिमंत्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग;
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(२)

आमंत्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले,
अंधकार के महा उदधि में अंधों से तरने वाले;
फूल चढ़ाने वे आए हैं जिसमें मिलता नहीं पराग !
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

(३)

इस उत्सव में आन-जुटे हैं हँस-हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटाकर पल में तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग को कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले;
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग !
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(४)

यहाँ हृदय वालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है;
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की वेला है;
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है,
फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग।
जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(५)

लपटें हों विनाश की जिसमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान;
अरे क्रांति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्‌वासों के धूम्र-पुंज से ढक जावे जग का अभिमान,
आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोला बने विराग !
जल उठ ! जल उठ ; अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग !

श्री रामकुमार वर्मा

(जन्म संवत् १९६२)

श्री रामकुमार वर्मा का जन्म-स्थान मध्य-प्रदेश के सागर ज़िले का एक गाँव है। आप इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में हिंदी-प्रोफ़ेसर के प्रतिष्ठित पद पर हैं। आप जितने मधुर कवि है उतने ही विद्वान् भी। बचपन से ही आपको कविता लिखने का शौक रहा है, और शिक्षा के साथ-साथ आपके रचना-कौशल में विकास होता गया है।

आपकी प्रारंभिक पुस्तकों—वीर हम्मीर, कुल-ललना—की लेखन-शैली ठीक उसी तरह की है; जिस तरह की खड़ी बोली के प्रारंभिक काल के कवियों की थी, किंतु, धीरे धीरे आपने अपना रंग ही बदल डाला। अब ये अपने ढंग के निराले कवि हैं। प्राचीन संत कवियों की वाणी का आपने अच्छा अध्ययन किया है और उनके आध्यात्मिक शब्दों का आपकी रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आपकी आजकल की कविताओं में एक रहस्य-भरा संकेत बहुत सरल और सरस ढंग से लिखा हुआ मिलता है।

आपकी वीर-हम्मीर, कुल-ललना, चितवन, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, अंजलि, रूप-राशि, निशीथ, चित्ररेखा और चंद्रकिरण नामक काव्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

सुकवि के साथ आप सत्समालोचक भी हैं। आपने समालोचना-संबंधी 'कबीर का रहस्यवाद' 'साहित्य-समालोचना'; और 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक पुस्तकें लिखी हैं। साथ ही आपने एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

अशांत

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में कैसे देखूँ जीत ?
उषा अभी सुकुमार; क्षणों में होगी यही सुख-सेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की सरल की मृत्यु की सेज,
कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप ।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप !
क्या है अन्तिम लक्ष्य निराशा के पथ का—अज्ञात !
दिन को क्यों लपेट देती है श्याम वस्त्र में रात ?
और, काँच के टुकड़े बिखरा कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख देता है नभ नीच ?
यही निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता, छिपकर भीषण व्याल ।
देख रहा हूँ बहुत दूर पर शाँति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशांति-तम ही सकता हूँ देख,
काँप रही स्वर-अनिल-लहर रह-रह कर अधिक सरोष,
डर कर निरपराध मन अपने ही को देता दोष !
कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप !
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही संताप !
हास्य कहाँ है ? उसमें भी है रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में करती है विश्राम,
दया कहाँ है ? दूषित उसको करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो छिपा हुआ है दोष,
धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप !

मेरे दुख में प्रकृति न देती क्षणभर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है मेरा भिक्षुक हाथ,
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर मेरे श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुंजित करती रहतीं मेरी आह;
'मर ! मर' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन।
भूल रहा हूँ स्वयं इस समय मैं हूँ जग में कौन ?
वह सरिता है, चली जा रही है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने 'शांति-शांति का नाम,
लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन।
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन ?

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार-बीच
जगकर सजकर रजनी बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो
ये गजरों तारों वाले ?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ प्यारी।
निर्झर के निर्मल जल में
ये गजरे हिला हिला धोना।
लहर लहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना।

होने दो प्रतिबिंब विचुंबित
लहरों में ही लहराना ।
लो मेरे तारों के गजरे
निर्झर-स्वर में यह गाना !
यदि प्रभात तक कोई आकर
तुमसे हाय, न मोल करे ।
तो फूलों पर ओस-रूप में
बिखरा देना सब गजरे !

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हार हास आया ।
इन फटे से बादलों में कौन सा मधुमास आया ?
यह तुम्हाहारा हास आया ।
आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं ?
एक उज्जवल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ।
यह तुम्हारा हास आया !
आह ! वह कोकिल न जाने–
क्यों हृदय को चीर रोई ?
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय ! सोई !
किंतु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया !
यह तुम्हारा हास आया !

किरण-कण

एक दीपक-किरण-कण हूँ ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं ।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

व्योम के उर में अपार भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूं ।

शलभ को अमरत्व देकर प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का संदेश लेकर रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ?

चन्द्र-किरण

यह चन्द्र-किरण भू पर आई ।
साहस तो देखो नभवासिनि, पृथ्वी पर कह नव छवि लाई ।।
एकाकीपन का लिए भार,
तम के प्रदेश को किया पार,
प्रतिक्षण विस्तृत हो रेख रूप,
कर दिया विमल तन तार-तार ।
मेरे दृग में खोकर उसने, बोलो, क्या जीवन-निधि पाई ।।
तज नक्षत्रों से पूर्ण लोक,
आलोक छोड़, निज ज्योति रोक,

मेरी पृथ्वी जो है मलीन,
जिसमें है पीड़ा, रुदन, शोक,
उसमें आने के हेतु न जाने क्यों इतनी यह ललचाई!
यह चन्द्र-किरण भू पर आई।

आँसू

पीड़ा को दो भागों में कर तुम दो बूँदों में कहाँ चले!
क्यों मिलते धूल-कणों में हो, जो मेरे दृग में सदा पले!
क्या मेरी करुणा के दो फल, गिर पड़ने ही के लिए फले?
मन में तो थे तुम ज्वालरूप आँखों में पानी बन निकले!
इस बिंदु-परिधि में लहराता है पीड़ा का सागर प्रतिपल!
इस जल की नींव बनाकर ही तो खड़ा हुआ है ताजमहल।
मैं भूल गया मेरी आँखों के पानी से है विश्व विकल।
जो मेरा है दृग-बिंदु, वही है प्रकृति-तत्व का जल अविकल।
पर तुम आँसू ही रहो, बनों मत प्रकृति-तत्त्व के प्राण भले।
यह बतला दो पीड़ा को दो भागों में कर तुम कहाँ चले!

रहस्य

जीवन ही करुण कथा है!
शब्दों में सुंदरता है, अर्थों में भरी व्यथा है।
फूलों की मत्त सुरभि-सी जो फूलों से हट जावे,
ऐसा यह लघु जीवन है जो जीते जी घट जावे।
जिसकी केवल स्मृति रह कर, मनमें चुभती रहती है,
दृग के कोमल कोने में करुणा-धारा बहती है।
केवल अभिनय ही तो है, जीवन है छोटा अभिनय;
तस्कर-सा, जिसमें विचलित साहस के पीछे है भय,
यह जीवन समय-भवन से टूटा-सा टेढ़ा जाला;
जो रेशम-सा दिखता है, जीर्ण अंत में काला।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

(जन्म संवत् १९६५)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का जन्म-स्थान ग्वालियर राज्य का गुना नामक स्थान है। बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति कविता लिखने की ओर रही है। वस्तुतः उनकी अंतर्वेदना ही काव्य के रूप में अपने आप फूट पड़ी है। कविता की देन उनको प्रकृति से मिली है।

प्रेमी जी की माता का देहांत उनकी तीन साल की आयु में ही हो गया था, उन्हें बचपन से ही एक अभाव अपने जीवन में प्रतीत हुआ जिससे वह हाहाकार कर उठा। वही हाहाकार 'कविता' बन गया।

प्रेमी जी ने हृदय की मर्म-व्यथा, देश-प्रेम, छायावाद और रहस्यवाद, सभी कुछ अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। उनकी "आँखों में" पुस्तक में हृदय की मर्म-व्यथा बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित की गई है। उनकी 'स्वर्ण-विहान' नामक नाटिका जो सरकार द्वारा ज़प्त हो गई, देश-प्रेम-संबधी उत्कृष्ट कथानक है, 'जादूगरनी' पुस्तक छायावाद का और 'अनंत के पथ पर' काव्य रहस्यवाद का उज्ज्वल उदाहरण है। अब उनकी वेदना ने उग्र रूप धारण किया है और वे क्रांतिमयी भावनाओं से ओत-प्रोत कविताएँ लिखते हैं जिनका संग्रह 'अग्निगान' नाम से निकलना है। कवि के साथ ही वे सफल नाटक-कार भी हैं। उनके रक्षा-बंधन, शिवा-साधना, प्रतिशोध और आहुति नामक नाटकों का अच्छा स्वागत हुआ है।

अनुभूति की गहराई, प्रवाह, और भाषा की सरलता उनके काव्य के विशेष गुण हैं। उनकी अपनी मौलिक भावनाएँ हैं, मौलिक शैली है।

बंधन-मुक्ति

खोलती हूँ पिंजरे का द्वार!
उड़ो अंबर में विहग-कुमार!!

गहन-तम का यह काला कोट
सुनहरी किरणों की खा चोट,
भूमि पर अभी जायगा लोट,

तुम्हें होगा तुम पर अधिकार!
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार!

अश्रु-निर्भरिणी में कर स्नान,
तुम्हारा विहगी धरती ध्यान!
स्वजन-गण गाते स्वागत-गान!

मिलो जाकर उनसे सुकुमार!
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार!

बंद कर प्राणों का संगीत,
भुलाकर मादक मधुर अतीत,
मौन से, सूनेपन से प्रीति,

पालकर रहते क्यों मनमार?
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार!!

कुसुम-दल के गालों को चूम,
प्यार की प्याली पी-पी झूम,
गगन, वन, कुंज-कुज में घूम,

करो जग में स्वच्छन्द विहार!
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार!!

तुम्हारा चंद्र, सूर्य, आकाश,
तुम्हारी सन्ध्या, उषा, प्रकाश;
निशा, दिन, उपवन, वन, मधुमास,
करो शासन, ऐ राजकुमार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !!

याचना

हे प्रभु, हे प्रभु जीवन दो !
आँधी आवे, बादल बरसे, बिजली कड़के !
भय-विह्वल हो सारे जग की छाती धड़के !
आशंकित हो जरा न फिर भी ऐसा मन दो।
हे प्रभु, हे प्रभु जीवन दो !
लहरें लहरें, डगमग-डगमग नौका डोले !
उन लहरों में यम का पागल डमरू बोले !
रोकूँ नहीं नाव को ऐसी मुझे लगन दो !
हे प्रभु, हे प्रभु जीवन दो !

पीड़ा का पर्दा

(१)

स्नेहमयी, क्या हुआ तुम्हें जो मुझ से कहतीं, "गीत सुनाओ,
वीणा की झंकारों को भी घायल दिल का दर्द पिलाओ।"
व्यथा हृदय की तुम से बाले, छुपी हुई है, क्या बतलाओ।
फिर क्यों कहती हो, "पीड़ा का पर्दा प्रियतम आज उठाओ।"
दबी पड़ी रहने दो दिल की
बातें दिल में ही, कल्याणी !
गिरि-शृंगों से ठोकर खाकर
व्यर्थ लौट आवेगी वाणी !

(२)

हमने जो विद्रोह किया है तूफ़ानों से रण है ठाना ।
सारे अभिशापों को सर पर लादे हुए पार है जाना ;
लाल-लाल आँखें दिखलाता रात-दिवस बेदर्द जमाना ।
किस आशा से कहूँ आज मैं उससे जीवन का अफ़साना !
तुम हो, सजनि, और है मेरी
मदिरा से भरपूर सुराही,
और कौन है जो दे मुझ को
आज मुरादें मन की चाही !

(३)

जगत् कह रहा बड़े स्नेह से मूर्खराज उस ओर न जाओ !
शस्त्र उठाओ मत, तुम केवल अपना मादक गान सुनाओ !
तुम जो हो बस रहो वही, मत व्यर्थ हवा में महल बनाओ !
कहाँ फेंक दी मादक वंशी उसका जादू पुनः दिखाओ !
आह, प्रिये, वे समझ रहे हैं
मुझ को दुर्बल, कायर प्राणी ।
काँटों सी चुभ रही हृदय में
उन की स्नेहभरी सी वाणी !

(४)

यह माना कि परिश्रम से थक बूढ़ी-सी हो चली जवानी !
जब सूना होता आँखों में बरबस भर आता है पानी !
महारथी भी करते इस पथ पर आने में आना-कानी !
फिर भी रोके रुक न सकी हैं चपल लालसाएँ दीवानी ।
कोई नहीं जान पाता है
अंतर् का तूफ़ान, सखी री !

अभिलाषाओं की ज्वाला में
जलते मेरे प्राण सखी री !

(५)

हँसते हैं सम्राट, "चला है राज जमाने आज भिखारी।
आसमान के तारे लाने की की बौने ने तैयारी।"
आज व्यंग की वस्तु बनी है दुर्बल प्राणों की लाचारी।
तूफ़ानी लहरों पर कर दी जीर्ण-तरी ले यात्रा जारी।
डर कर कहती हो मैं माँगू
इस दुनिया से आज सहारा,
जो कहती है, "अभी जला दो
तुम सपनों का उपवन सारा।"

(६)

जो मिट जाते हैं चरणों के नीचे आकर कीट-पतंगे !
आसमान के नीचे रहते कठिन शीत में भूखे-नंगे !
बे-घरबार, राह पर बैठे, अन्धे, लूले, लँगड़े, पंगे।
आज उन्हीं में समझ रहे हैं दुनिया वाले हमें लफंगे !
दिखा दया के टुकड़े हम से
वे जीवन का मोल कर रहे।
वैभव के पैमाने पर वे
भोले दिल का तोल कर रहे।

(७)

बहुत तन चुकी मेरे दुर्बल प्राणों की साँसों की डोरी।
आँखों में अंगारे भर कर मौत खड़ी है ताने त्योरी।
इसे छुओ मत, सह न सकेगी यह आघातों की बरजोरी !
जग से अपमानों की भिक्षा लेने मत मजबूर करो री !

चलते चलें सदा एकाकी,
चलते-चलते ही मिट जावें,
हारिल पक्षी से अम्बर में
उड़ते-उड़ते प्राण गँवावें ।

(८)

प्रिये, छोड़ बैठे जो घर हम अब उस घर की याद करें क्यों ?
स्वप्न हो गए दिवस सुखों के उनकी स्मृति में आह भरें क्यों ?
वर्तमान का तीखा प्याला पीलें हँसते हुए, डरें क्यों ?
मरने के पहले ही, बोलो, बार-बार बेकार मरें क्यों ?
यह सच है दिल ही तो है यह;
कभी टूट जाता दर्पण-सा,
पर, कठोर जग में रहने को
इसे बनाना है पाहन-सा !

(९)

क्या कहती हो, पर्ण-कुटी में आज भयानक तम है छाया !
दीप जलाने भर को हमने स्नेह नहीं दुनिया में पाया ।
यह भी अच्छा है, अब जग की हमें न फुसलावेगी माया ।
उसने दे निर्वासन हमको है अटूट विद्रोह जगाया ।
थके हुए प्राणों में निशिदिन
तीव्र जला करती है ज्वाला !
प्रिये, शस्त्र अब तीखे कर दो,
गहरा भर दो मद का प्याला !

(१०)

सजनि, मनोरंजन अब कैसा वीणा मेरे पास न लाओ !
कोयल बन क्यों व्यर्थ जगत की डाल-डाल पर गीत सुनाओ ।

आज आख़िरी बार एक क्षण और तुम्हें देता हूँ, आओ!
इस आकुलतम क्षणकी स्मृतिमें युग-युग महामिलन सुखपाओ!
अब ममता की जंजीरों से
विद्रोही को मुक्त बनाओ!
शस्त्र हाथ में देकर मुझको
समर-भूमि की राह दिखाओ!

(११)

क्यों कहती हो एक घड़ी रुक, मधुर स्नेह-संगीत सुनाऊँ!
सूखी हुई स्नेह क्यारी में क्षण जीवन की धार बहाऊँ!
मेरी साँस-साँस में ज्वाला, बोलो तो, सखि, कैसे गाऊँ?
मुझको जाने दो, इस ज्वाला में जग का अभिमान जलाऊँ?
जग को रहने योग्य बनाऊँ
या अपना अस्तित्व मिटाऊँ।
क्यों बेदर्द जगत् के आगे
पीड़ा को बेपर्द बनाऊँ?

रक्षा-बंधन

(१)

बहन, बाँध दे रक्षा-बंधन मुझे समर में जाना है।
अब के घन-गर्जन में रण का भीषण छिड़ा तराना है।
दे आशीश जननि के चरणों में यह शीश चढ़ाना है।
बहन, पोंछ ले अश्रु गुलामी का यदि दुःख मिटाना है।
अंतिम बार बाँध ले राखी,
कर ले प्यार आख़िरी बार—
मुझ को, ज़ालिम ने फाँसी की
डोरी कर रक्खी तैयार।

(२)

रक्षा, रक्षा कायरता से, मर मिटने का दे वरदान ।
हृदय-रक्त से टीका कर दे, कर मस्तक पर लाल निशान ।
वह जीवन का स्रोत आज कर मेरे मानस में संचार ।
काँप न जाऊँ देख समर में रिपु की बिजली-सी तलवार ।

अपना शीश कटा जननी की
जय का मार्ग बनाना है ।
बहन, बाँध दे रक्षा-बंधन
मुझे समर में जाना है !

(३)

जिसने लाखों ललनाओं के पोंछ दिए सर के सिंदूर
गड़ा रहा कितनी कुटियाओं के दीपों पर आँखें क्रूर ।
वज्र गिराकर कितने कोमल हृदय कर दिए चकनाचूर !
उस पापी की प्यास बुझाने, बहन, जा रहे लाखों शूर ।

मृत्युविटप की शाखा पर मैं
डाल हिंडोला झूलूँगा ।
दो पैगों में अमरलोक की
अंतिम सीढ़ी चूमूँगा !

(४)

बहन, शीश पर मेरे रख दे स्नेह-सहित अपना शुभ हाथ ।
कटने के पहले न झुके यह ऊँचा रहे गर्व के साथ !
उस हत्यारे ने कर डाला, अपना सारा देश अनाथ !
आश्रयहीन हुई यदि तू भी, ऊँचा होगा तेरा माथ !

दीन भिखारिन बन कर तू भी
गली-गली फेरी देना !

'उठो बंधुओ, विजय-वधू को
वरो तभी निद्रा लेना !'

(५)

आज सभी देते हैं अपनी बहनों को अमूल्य उपहार !
मेरे पास रखा ही क्या है आँखों के आँसू दो-चार !
ला, दो-चार गिरा दूँ, आगे अपना अंचल विमल पसार !
तू कहती है, 'ये मणियाँ हैं इन पर न्यौछावर संसार !'
बहन, बढ़ा दे चरण-कमल, मैं
अंतिम बार उन्हें लूँ चूम !
तेरे शुचि स्वर्गीय स्नेह के,
अमर नशे में लूँ अब झूम !

(६)

जिस कर में अब बाँध रही है तू अपनी राखी के तार,
उसे हृदय पर रख देना तू मुझे चिता पर रखती बार !
मृत्यु गुलामी से सुंदर है, कायरता से शुभ संहार !'
अपनी राखी के तारों में, बहन, यही भर दो झंकार !
कभी इसी राखी के धागे
पर कट गए हज़ारों शीश !
इस धागे की लाज रखूँगा,
दे बहना, मुझको आशीश !

जिज्ञासा

स्वर्गंगा की धारा में स्मृति के दीपक हैं बहते,
किस मधुर लोक की गाथा मेरे मानस से कहते ?
इस रत्न-जटित अंबर से किसने वसुधा को छाया,
करुणा की किरणें चमका, क्यों अपना रूप छिपाया ?

यह हृदय न जाने किस की सुधि में बेसुध हो जाता,
छिप-छिप कर कौन हृदय की वीणा के तार बजाता ?
इस नीरव नभ से जाने किसका आमंत्रण आता,
उर लक्ष्य-हीन विहगी-सा किस ओर उड़ा-सा जाता ?
इस महाशून्य में किसका मैं अनुभव कर मुसकाती,
मैं अपने ही कलरव को क्यों नहीं समझने पाती ?
इस पर्दे के पीछे से करता है कौन इशारे ?
किसने जीवन के बन्धन सहसा खोले हैं सारे ?
किसका अभाव मानस में सहसा शशि सा आ चमका,
है क्या रहस्य बतला दे कोई इस अन्तर्तम का ?
किसके चरणों पर अविरल आँखों का अर्घ्य चढ़ाती ?
किस मादक-मोहक छवि के मैं नित्य गीत हूँ गाती ?
स्वप्नों में आ क्यों कोई चुपचाप चला जाता है ?
बुझते जीवन-दीपक को भर स्नेह चला जाता है ?
किस महालोक से आता, किस महालोक को जाता,
किस स्वर्ण-सदन में मेरा रहता है भाग्य विधाता ?
किसका अदृश्य कर सूने नभ को चित्रित कर जाता ?
किसका कर दिन-रजनी का यह अविरत चक्र चलाता ?
है क्या रहस्य, क्या जाने इस विस्तृत अगम गगन का;
वह मादक देश कहाँ है जीवन के जीवन-धन का ?
कैसे यह इतना सोना इन किरणों में भर आया,
नित नए रूप सजती है किस मायावी की माया ?
यह प्रतिपल का परिवर्तन किन चपल करों को भाया ?
किस शिशु के कौतूहल ने यह जग सा खेल बनाया ?

गीत

अवरत पथ पर चलना री !
गति जीवन का चरम लक्ष्य है
विरति, मुक्ति, सब छलना री !
अविरत पथ पर चलना री !
'रण में सहसा मरण' महत है
पर क्या वह जीवन का 'सत' है ?
जीवन तो बलि-पथ शाश्वत है,
अणु-अणु करके गलना री !
अविरत पथ पर चलना री !
सरल, चिता -शय्या पर सोना,
कठिन दुःख सहना–सब खोना,
मिट जाना, पर विकल न होना,
तिल-तिल करके जलना री !
अविरत पथ पर चलना री

उपेक्षित दीप

आज शिखा प्रज्वलित हुई है इस दीपक की अन्तिम बार।
मेरे चारों ओर व्यथा का विस्तृत हुआ करुण संसार।
पूरी एक रात भी जलकर किया न कुटिया का श्रृंगार।
अब बुझती हूँ किसी हृदय ने ढाली नहीं स्नेह की धार !
जग तो बिजली पर मरता है
जहाँ स्नेह का नही निशान;
मेरी इस छोटी सी लौ का
यहाँ नहीं हो सकता मान।

मैं

मैं हूँ नहीं गगन का तारा, जगमग, जगमग, विमल महान।
रत्न नहीं हूँ जो कंचन-तन के उर पर पा जाऊँ स्थान!
फूल नहीं हूँ जो उलझी अलकों में सजूँ, करूँ अभिमान!
स्वाति नहीं हूँ तृप्त करूँ जो किसी तृषित चातक के प्राण।
मैं तो एक अश्रु का कण हूँ,
आंखों में भर आता हूँ।
पल भर नर्तन कर लेता हूँ,
चरणों में गिर जाता हूँ!

काली

देवि, नहीं देखा युग युग से तेरी आँखों में संहार।
चकाचौंध करती बिजली सी चमकी नहीं तीक्ष्ण तलवार!
सुनी नहीं भूखंडों को को कंपित करने वाली ललकार!
सर्वनाश के, महाप्रलय के बजे नहीं हैं कब से तार!
ओ मुंडो की मालावाली, सिंह-वाहिनी, री काली।
क्यों युग-युग से पड़ा हुआ है यह तेरा खप्पर खाली?
शक्तिमयी, बन बैठी निश्चल पाहन की प्रतिमा बेकार!
क्यों बैठी है बना मंदिरों को तू अपना कारागार?
जहाँ नाम पर तेरे करते तुच्छ प्राणियों का बलिदान।
नीरव मौन देख कर तुझको हँसते हैं असुरों के प्राण।
मुंड-माल हो गई पुरानी अब तेरी सतयुग वाली।
नये-नये गुरियों को लेकर क्यों न गूँथ लेती काली।
हो उन्मत्त पान कर आसव, भूल देवि, करुणा औ' प्यार!
जाग उठे प्राणों में सहसा अब प्रतिशोध और प्रतिकार!

राज-मुकुट भू-लुंठित होवें, सिंहासन हों चकनाचूर ।
एक बार फिर दिखला जग को अपना बल-विक्रम भरपूर ।
रँग दे ओर-छोर नभ-भू के रिपुदल के लोहू की लाली !
एक बार फिर जला जगत् में सर्वनाश की ज्वाला काली !

भूत-प्रेत, बैताल, पिशाचों के पूरे हो लें अरमान !
मरघट पर आनन्द मना लें तप्त रक्त से कर कर स्नान !
उठा-उठा खोपड़ी बजावें, फिर लोथों का बँटे प्रसाद !
भैरव स्वर से भर दे नभ-भू तेरी सेना का आह्लाद !
नाच उठें पागल हो हो कर रण-भू में दे-दे ताली !
एक बार भर पेट मना भी लेने दे उत्सव काली !

वज्र-पात सी, आँधी सी, विकराल बवंडर सी बेपीर !
आकर खंड-खंड कर दे तू दुष्टों के दृढ़तम प्राचीर !
पदाघात से भूकंपों को बुला, हिलें भूगोल खगोल !
बन अभिशाप प्रलय वसुधा पर एक बार फिर कर किल्लोल !
कहाँ सूर्य को विस्मित करने वाली आँखों की लाली !
उच्छृंखल, विध्वंस भयंकर, अनियम, दावानल काली !

तेरा रूप देख शंकर का नेत्र तीसरा माने हार !
जल में ज्वाला करे प्रज्वलित ऐसी तुझ में शक्ति अपार !
मरुस्थली में भर सकती है तू लहराते पारावार !
वज्र इन्द्र का भी शरमाता देख तड़ित सी तव तलवार !
चकाचौंध सी उठे भुजा फिर एक बार यह असिवाली !
काँप उठें फिर प्राण विश्व के सुन तेरी गर्जन काली ।

घायल

ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !
हम तिनके हैं छोटे छोटे,
तुम वैभव-गिरि मोटे मोटे,
तुम हो सभ्य और हम खोटे ।
तुम चलते हो कुचल कुचल भोलापन !
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !
हमने जितने बाग लगाए,
तुमने उनके फल हैं खाए,
हमने केवल छिलके पाए,
हमने घुला दिये अपने कंचन-तन ।
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन ।
खड़े महल, अम्बर से बातें—
करने वाले, कौन बनाते ।
वे उनमें कब रहने पाते;
उनके लिये गगन छत है, भू आँगन ।
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन ।
तुम हँसते हो, इठलाते हो,
टुकड़े देकर मुसकाते हो,
तुम उपकारी कहलाते हो !
देकर हमें हमारा ही लूटा धन !
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !
चूस लिया जीवन-रस तुमने,
हमें बनाया बेबस तुमने,
हमको जकड़ा कस कस तुमने ।

कदम-कदम पर आज न्याय का बंधन।
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !
साँस-साँस में ज्वाला जलती,
नस-नस में उत्क्रांति मचलती,
छूने को आकाश उछलती,

उसको कब तक रोक सकेगा शासन ?
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !
कब तक अपनी आँखें मींचे
दबे हुए जुल्मों के नीचे;
चलें गुलामी का रथ खींचे,

गूंज उठा है आज मुक्ति का गायन !
ये घायल दिल महाप्रलय के वाहन !

———

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'

श्री हरिवंशराय 'बच्चन' ने हिंदी-जगत् को जी भर कर मदिरा के जाम पिलाकर मद-मस्त कर दिया है। 'बच्चन' कुछ वर्ष पहले साधारण कवि के रूप में लोगों के सामने आए थे, किंतु शीघ्र ही आपने उमर खयाम की रुबाइयात का अनुवाद करके तथा स्वयं अपनी 'मधुशाला' की रुबाइयात लिखकर, प्रकाशित कराकर, तथा अपने मधुर कंठ से सुना-सुनाकर अपना नाम कविता-प्रेमियों के हृदय पर अंकित कर दिया। पाठकों और श्रोताओं से जो प्रोत्साहन आपको मिला उसने आपके हृदय में व्याकुल कवि को वाणी दे दी। फिर तो आपने 'मधुबाला' और 'मधुकलश' आदि अपने उसी मस्ताने रंग में लिख डाले। शराब-संबंधी आपकी अधिकांश रचनाएँ आध्यात्मिक भावनाओं से भरी हुई हैं।

अब बच्चन के जीवन ने और उनकी रचनाओं ने पलटा खाया है, जिसका परिचय 'निशा-निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' नामक छोटे-छोटे गीतों के संग्रह से मिलता है। दर्शन और अध्यात्म अब आपको कुछ गहराई से छूता जान पड़ता है।

भाषा का सारल्य और लालित्य, भावों की मस्ती और कल्पना की कोमलता आपके काव्य के विशेष गुण हैं।

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ;
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छू कर,
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ!
मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ!
मैं निज उर के उद्गार लिए फिरता हूँ;
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूँ;
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता;
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ!
मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ!
जग भव-सागर तरने को नाव बनाए,
मैं मन मौजों पर मस्त बहा करता हूँ!
मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूं,
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूं,
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिए फिरता हूँ,
कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना?
नादान वहीं है, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे,
मैं सीख रहा हूँ, सीखा ज्ञान भुलाना!

मैं और, और जग और कहाँ का नाता !
मैं बना-बना कितने जग रोज मिटाता !
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रतिपग से उस पृथ्वी को ठुकराता !
मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिए फिरता हूँ !
मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना !
मैं फूट पड़ा, तुम कहते, छंद बनाना !
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए !
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना !
मैं दीवानों का वेष लिए फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिए फिरता हूं ॥
जिसको सुनकर जग झूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूँ !

चल बसी संध्या गगन से

चल बसी संध्या गगन से
क्षितिज ने ली साँस गहरी
और संध्या की सुनहरी
छोड़ दी साड़ी, अभी तक था जिसे थामे लगन से !
चल बसी संध्या गगन से
हिल उठे तरु-पत्र सहसा,
शांति फिर सर्वत्र सहसा,
छा गई, जैसे प्रकृति ने ली विदा दिन के पवन से !

चल बसी संध्या गगन से !
बुलबुलों ने पाटलों से
षटपदों ने शतदलों से
कुछ कहा—यह देख मेरे गिर पड़े आँसू नयन से !
चल बसी संध्या गगन से

अंधकार बढ़ता जाता है !

अंधकार बढ़ता जाता है !
मिटता जब तरु-तरु में अंतर,
तम की चादर हर तरुवर पर।
केवल ताड़ अलग हो सब से अपनी सत्ता बतलाता है !
अंधकार बढ़ता जाता है।
दिखलाई देता कुछ-कुछ मग,
जिस पर शंकित हो चलते पग,
दूरी पर जो चीज़ें उन में केवल दीप नज़र आता है !
अंधकार बढ़ता जाता है !
डर न लगे सुनसान सड़क पर,
इसीलिए कुछ ऊँचा स्वर कर,
विलग साथियों से हो कोई पथिक सुनो गाता आता है।
अंधकार बढ़ता जाता है !

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

दिन जल्दी जल्दी ढलता है !
हो जाय न पथ में रात कहीं
मंजिल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी जल्दी चलता है।
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !

बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !

मुझ से मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊँ किसके हित चंचल !
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है।

बीत चली संध्या की वेला !

बीत चली संध्या की वेला
धुँधली प्रतिपल पड़ने वाली,
एक रेख में सिमटी लाली,
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !
बीत चली संध्या की वेला

नभ में कुछ द्युति-हीन सितारे
माँग रहे हैं हाथ पसारे—
'रजनी आए, रवि-किरणों से हमने है दिन भर दुख झेला।'
बीत चली संध्या की वेला !

अंतरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़,कभी उधर उड़,
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला !
बीत चली संध्या की वेला।

साथी, घर घर आज दिवाली !

साथी, घर-घर आज दिवाली !
फैल गईं दीपों की माला,
मंदिर-मंदिर में उजियाला,
किंतु हमारे घर का, देखो, दर काला, दीवारें काली !
साथी, घर-घर आज दिवाली !
हास उमंग हृदय में भर-भर,
घूम रहा गृह-गृह पथ-पथ पर,
किंतु हमारे घर के अंदर भरा हुआ सूनापन खाली !
साथी, घर-घर आज दिवाली !
आँख हमारी नभ-मंडल पर;
वही हमारा नीलम का घर;
दीपमालिका मना रही है रात हमारी तारोंवाली !
साथी, घर-घर आज दिवाली !

कहते हैं, तारे गाते हैं !

कहते हैं, तारे गाते हैं !
सन्नाटा वसुधा पर छाया,
नभ में हमने कान लगाया,
फिर भी अगणित कंठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं !
कहते हैं तारे गाते हैं !
स्वर्ग सुना करता यह गाना,
पृथ्वी ने तो बस यह जाना,
अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं !
ऊपर देव, तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन-रोदन,

राग सदा ऊपर को उठता, आँसू नीचे झर जाते हैं!
कहते हैं, तारे गाते हैं!

मैंने खेल किया जीवन से

मैंने खेल किया जीवन से !
सत्य भवन में मेरे आया,
पर मैं उसको देख न पाया,
दूर न कर पाया मैं, साथी, सपनों का उन्माद नयन से !
मैंने खेल किया जीवन से !
मिलता था बेमोल मुझे सुख,
पर मैंने उससे फेरा मुख,
मैं खरीद बैठा पीड़ा को यौवन के चिर संचित धन से !
मैंने खेल किया जीवन से !
थे बैठे भगवान हृदय में,
देर हुई मुझको निर्णय में,
उन्हें देवता समझा जो थे कुछ भी अधिक नहीं पाहन से ।
मैंने खेल किया जीवन से !

श्री सुभद्राकुमारी चौहान

जबलपुर के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्य-कर्ता श्री लक्ष्मणसिंह चौहान की धर्मपत्नी श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की कीर्ति आज उनके पति से भी कहीं अधिक बढ़ गई है। कवयित्री के रूप में सुभद्रा जी अत्यन्त लोक-प्रिय हैं। आपकी रचनाएँ बहुत सरल, ओजस्वी, और हृदय पर असर करने वाली हैं। देश-प्रेम में तो आप सर से पैर तक डूबी हुई हैं। आप क्षत्राणी हैं और क्षात्र-तेज आप की कविताओं में पूर्णरूप से प्रकट हो रहा है। आपकी अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिन्होंने सोते हुए हृदयों को जगाया है, कायरों को वीर बनाया है। किन्तु सुभद्रा केवल आग ही नहीं हैं—वह ज्योत्स्ना भी हैं। कोमल भावनाओं से ओत-प्रोत मधुर रचनाएँ भी आपने लिखी है। महाशक्ति और कल्याणी, दोनों ही रूपों में आप प्रकट हुई हैं।

आपकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सेकरिया पुरस्कार मिल चुका है। कविताओं के साथ आप कहानियाँ भी लिखती हैं और आप के कहानी-संग्रह 'बिखरे मोती' पर भी सेकसरिया पुरस्कार मिला है।

विजयादशमी

विजये तूने तो देखा है वह विजयी श्रीराम, सखी !
धर्मभीरु, सात्विक, निश्छलमन, वह करुणा का धाम सखी !
वनवासी, असहाय और फिर हुआ विधाता वाम, सखी !
हरी गई सहचरी जानकी वह व्याकुल घनश्याम, सखी !
कैसे जीत सका रावण को रावण था सम्राट, सखी !
सोने की लंका थी उसकी सजे राजसी ठाट, सखी !
रक्षक राक्षस-सैन्य सबल था, प्रहरी सिन्धु विराट, सखी !
नर ही नहीं देव डरते थे सुनकर उसकी डाट, सखी !
राम-समान हमारा भी तो रहा नहीं अब राज, सखी !
राज-दुलारों के तन पर हैं सजे फ़कीरी साज, सखी !
हो असहाय भटकते फिरते वनवासी से आज, सखी !
सीता-लक्ष्मी हरी किसी ने गई हमारी लाज, सखी !
आशा का संदेश सुनाती तू हमको प्रति वर्ष, सखी !
इसी लिए तेरे आने पर होता अतिशय हर्ष, सखी !
रामचन्द्र की विजय कथा का भेद बता आदर्श, सखी !
पराधीनता से छूटे यह प्यारा भारतवर्ष, सखी !
पर इतने ही से होता है, किसे भला संतोष, सखी !
ज़रा हृदय तो देख, भरे हैं यहाँ रोष के कोष, सखी !
वह दिन था, जब दिया किसी ने रण में ज़रा प्रचार, सखी !
मिटा दिया यम को भी हमने, हुआ हमारा वार, सखी !
और, आज तू देख, देख ये सबल बचाते प्राण, सखी !
रण से पिछड़ पड़े, कहते हैं करो देश का त्राण, सखी !
छिड़ा आज यह पाप-पुण्य का युद्ध अनोखा एक, सखी !
मर जावें, पर साथ न देंगे पापों का, है टेक, सखी !

सबलों को कुछ सीख सिखाओ मरें करें उद्धार, सखी !
दानव दल दें, पाप मसल दें, मेटें अत्याचार, सखी !
सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो हमको दे वरदान, सखी !
अबलाएँ उठ पड़ें देश में करें युद्ध घमसान, सखी !
देखें फिर इस जगतीतल में होगी कैसे हार, सखी !
भारत-माँ की बेड़ी काटें होवे बेड़ा पार, सखी !
दो, विजये, वह आत्मिक बल दो, वह हुंकार मचाने दो !
अपनी निर्बल आवाजों से दुनिया को दहलाने दो !
'जय स्वतंत्रिणी भारत-माँ।" यों कहकर मुकुट लगाने दो।
हमें नहीं, इस भूमंडल को माँ पर बलि हो जाने दो !
पापों के गढ़ टूट पड़ेंगे रहना तुम तैयार, सखी !
विजये, हम-तुम मिलकर लेंगी अपनी मां का प्यार, सखी !

जाने दे

कठिन प्रयत्नों से सामग्री मैं बटोर कर लाई थी।
बड़ी उमंगों से मंदिर में पूजा करने आई थी।
पास पहुँचकर जो देखा तो आहा ! द्वार खुला पाया।
जिसकी लगन लगी थी, उसके दर्शन का अवसर आया।
हर्ष और उत्साह बढ़ा, कुछ लज्जा, कुछ संकोच हुआ !
उत्सुकता, व्याकुलता कुछ-कुछ संभ्रम कुछ कुछ, सोच हुआ।
मन में था विश्वास कि उनके अब तो दर्शन पाऊँगी।
प्रियतम के चरणों पर अपना मैं सर्वस्व चढ़ाऊँगी।
कह दूँगी अंतरतम की, मैं उनसे नहीं छिपाऊँगी।
मानिनि हूँ, पर मान तजूँगी चरणों पर बल जाऊँगी।
पूरी हुई साधना मेरी मुझको परमानन्द मिला।
किंतु बढ़ी तो हुआ अरे क्या ? मंदिर का पट बंद मिला।

निठुर पुजारी! यह क्या? मुझ पर तुझे न तनिक दया आई।
किया द्वार को बंद हाय! मैं प्रियतम को न देख पाई!!
करके कृपा पुजारी! मुझ को ज़रा वहाँ तक जाने दे।
मुझको भी थोड़ी-सी पूजा प्रियतम तक पहुँचाने दे।
छूने दे उनके चरणों का जीवन सफल बनाने दे।
खोल, खोल दे द्वार, पुजारी! मन की व्यथा मिटाने दे।
बहुत बड़ी आशा से आई हूँ मत कर तू मुझे निराश।
एक बार, बस एक बार तू, जाने दे प्रियतम के पास।

इसका रोना

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है।
मैं कहती हूँ, इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है।
सच कहती हूँ, इस रोने की छवि को ज़रा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों पर मुक्तावलि वारोगे।
ये नन्हे से होंठ और यह लम्बी सी सिसकी देखो।
यह छोटा-सा गला और गहरी-सी हिचकी देखो।
कैसी करुणा-जनक दृष्टि है हृदय उमड़ कर आया है।
छिपे हुए आत्मीय भाव को यह उभाड़ कर लाया है।
हँसी बाहरी चहल पहल को ही बहुधा दरसाती है।
पर रोने में अन्ततम तक की हलचल मच जाती है।
जिससे सोई हुई आत्मा जगती है, अकुलाती है।
छूटे हुए किसी साथी को अपने पास बुलाती है॥
मैं सुनती हूँ कोई मेरा मुझ को अहा बुलाता है।
जिसकी करुणा-पूर्ण चीख से मेरा केवल नाता है।
मेरे ऊपर वह निर्भर है खाने, पीने, सोने में।
जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में ज्यों रोने में॥
मैं हूँ उसकी प्रकृति संगिनी उसकी जन्म-प्रदाता हूँ।
वह मेरी प्यारी बिटिया है, मैं ही उसकी माता हूँ।

तुमको सुनकर चिढ़ आती है मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन गर्वित होते हैं भगवान ॥

पुरस्कार कैसा ?

सहसा हुई पुकार ! मातृ-मंदिर में मुझे बुलाया क्यों ?
जान-बूझकर सोई थी, फिर, जननी, मुझे जगाया क्यों ?
भूल रही थी स्वप्न देखना आमंत्रण पहुँचाया क्यों ?
करने जाती थी बन्द द्वार, सहसा पथ. हाय ! सुझाया क्यों ?
मान मातृ-आदेश, दौड़कर आने को लाचार हुई !
क्या मेरी टूटी-फूटी-सी सेवा है स्वीकार हुई ।
स्वयं उपेक्षित पर गुरुजन का पथ-भूला दुलार कैसा ?
तिरस्कार के योग्य बावली पर यह अतुल प्यार कैसा ?
इस बुंदेलों की झाँसी में शस्त्रों बिना तार कैसा ?
देश-प्रेम की मतवाली को जननी ! पुरस्कार कैसा ?
क्षत्राणी हूँ सुख पाने दे अरुणामृत को धारों से ।
बनने दे इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारों से ।
ज़रा सुलग जाने दे चारों दिशि कुरबानी की आगी ।
अरी बेतवा ! दिखा समर में तेरे पानी की आगी !
हर पत्थर पर लिखा जहाँ बलिदान लक्ष्मीबाई का ।
कौन मूल्य है वहाँ सुभद्रा की कविता-चतुराई का !
न्यौता ? न्यौते के जवाब में न्यौता देने आई हूँ ।
भाई, दो, मैं तिलक-लालिमा साथ न अपने लाई हूँ ।
आज तुम्हारी लाली से माँ के मस्तक पर हो लाली !
काली जंजीरें टूटें, काली जमना में हो लाली !
जो स्वतन्त्र होने को हैं पावन दुलार उन हाथों का ।
स्वीकृत है; माँ की वेदी पर पुरस्कार उन हाथों का ।
लड़ने की धुन में भाई ममता का मधुर स्वाद कैसा ?
अपने ही से अपनों को डरती हूँ, धन्यवाद कैसा ?

श्री उदयशंकर भट्ट

[जन्म संवत् १९५५]

पंजाब के लाहौर नगर में निवास करने वाले साहित्य-सेवियों में पंडित उदयशंकर भट्ट का कवि और नाटककार के रूप में अपना अलग स्थान है। न केवल पंजाब बल्कि सारे हिन्दी जगत् में आप का नाम प्रसिद्धि पा चुका है।

आप हिंदी और संस्कृत के विद्वान् हैं इसलिए आप की कविताओं में भी पांडित्य का प्रभाव पड़ता है। पहले आपकी भाषा कुछ जटिल और संस्कृतमयी होती थी, किन्तु अब उर्दू शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से होने लगा है।

भट्ट जी बहुत पहिले से हिंदी भाषा की साधना कर रहे हैं। आपने प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन किया हैं, इसलिए आपकी प्रारंभिक रचनाओं में दार्शनिक भाव बहुलता से पाए जाते हैं। उन रचनाओं में कहीं कहीं रहस्यवाद नज़र आता है। किंतु अब भट्टजी की मनोवृत्ति में ज़माने की गति के अनुसार परिवर्तन हुआ है और सर्वसाधारण के हृदय को व्याकुल रखने वाला असंतोष अब आपकी रचनाओं में हाहाकार करने लगा है।

आपके 'राका' और 'विसर्जन' नाम के दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' नाम की दो भिन्न-तुकांत गद्य-नाटिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। तक्षशिला नाम का एक खंडकाव्य भी छपा है।

कवि के साथ ही आप नाटककार भी हैं।

विजया दशमी

आज पराजय के पथ में यह कैसी भूली विजय मिली,
सदियों की जंजीर झनझना याद दिलाती कौन चली ?
मेरी कारा टूट जायगी अरी झाँकते ही तेरे ।
मुश्किल से अरमान सुलाए, अभी रुके आँसू मेरे ।
स्मृतियों से पहले की स्मृतियों, तुम्हें बुलाने कौन गया ?
हमें दासता में मरने दो, क्यों दुहराती पाठ नया !
तुमने रामचरण की रज ले विजयावलियाँ लिख डाली !
जिनकी हुंकृति पर सब जग की आँखों की बिखरी लाली !
सुधि है कलियों का झंझा के झोंकों से विजयी होना,
और दुधमुहों के थप्पड़ से सिंहों का सुध-बुध खोना ।
सुधि है छोटे से रघु द्वारा इन्द्रासन कँप जाने की !
सुधि है क्षात्र-तेज के आगे भूमंडल थर्राने की !
सुधि है केवल हाथ उठाकर प्रण करते वसुधाधर की !
सुधि है शोणित भरने वाले रणचंडी के खप्पर की !
स्मृतियाँ कुछ कुछ अभी बची हैं विश्व विजय करने वाली ।
अब भी कभी-कभी रोतीं हैं उन पर आँखें मतवाली ।
कल ही तो उस चन्द्रगुप्त के सम्मुख यूनानी हारे ।
कल ही तो अशोक का पद-रज सिर धरते भूपति सारे !
पर कवि उन्हें याद करने का तुमको है अधिकार नहीं !
भूलो, उन पवित्र चरणों की स्मृति का यह संसार नहीं !
आज सभी कुछ उलट गया है उलटी हवा जमाने को ।
आज यहाँ रोने की बारी लज्जित हो मर जाने की ।
अब जीवन में पराजयों का जमघट ही तो बाकी है ।
तब तो मृत्यु मृत्यु में थी, अब जीवन में भी झाँकी है ।

रहने दो मत याद दिलाओ उन घड़ियों की मतवाली।
जंजीरें चटचटा उठेंगी सदियों की काली काली।
आज विजय की याद दिलाना पराजयों पर रोना है।
एक कलंकित पतित जाति का शुभ्र शुभ्रतर होना है!

आज जगत् की उथल-पुथल

अरे, फेंक दो सुधा रसीली मैं अब विष पीने आया हूँ।
किसी नशे की चाह नहीं पी सर्वनाश जीने आया हूँ।
भड़क-भड़क कर आग जगत् की पल को पीकर बढ़ती जाती।
किसी सृजन के लिए नाश के सोपानों पर चढ़ती जाती।
संचित मलयानिल से जिसने कलि के अधरों को खोला था,
रजनी के उन्मुक्त हृदय से जीवन जहाँ फूट बोला था,
जिसने सुख के मदिर गीत में आशा का आसव घोला था,
जहाँ बड़ों ने गिरे हुए के क्रंदन से निज यश तोला था,
वहाँ आज यह उथल-पुथल क्यों वहाँ जली क्यों दावानल है,
अन्धा भी यह देख रहा है 'ऊँचे' की आँखों में जल है।
चिनगारियाँ तुच्छ सी उड़ क्यों नभ में आग लगाने चलदीं।
और चटक कर घास, फूँस, तरु के अरमान जलाने चल दीं।
आज काँप क्यों रही महल की नभ-चुंबी यह शान न जाने।
आज झोंपड़ी के आगे क्यों मूर्छा से अरमान न जाने!
आज हिमालय से भी ऊँचे किसके जागे पाप न जाने!
डगमग हुआ नियति का आसन देखा क्या अभिशाप न जाने!
कौन पुकार रहा ऊँचे को 'नीचे आओ, नीचे आओ।'
कौन कह रहा है स्वामी से, 'मेरे पैरों पर गिर जाओ।'
कौन कह रहा है सिंहासन लकड़ी के कुछ सुन्दर टुकड़े?
कौन कह रहा है कानों में 'नृप के पैर धरा से उखड़े।'

बढ़ता ही जाता कोलाहल गिरता क्यों जाता है 'ऊँचा' ?
उठता क्यों जाता है 'नीचा' क्या से क्या हो गया समूचा !
क्या अम्बर के सभी गर्व मिल इसे धूल में मिला सकेंगे ?
क्या विभूति के शतशत बल मिल पीड़ा-पर्वत हिला सकेंगे।
समय हुआ क्या अश्रुबिंदु में सागर समा जायेंगे सारे।
व्यथित हृदय की आहों में हो राख रहेंगे दिनकर, तारे !
समय हुआ क्या आज धर्म को आडंबर से हटना होगा !
और रूढ़ियों को भविष्य की पावक में जल मिटना होगा !
समय हुआ क्या विषम हटाकर सम की लय पर गाना होगा !
या वैभव को महानाश में नाम शेष हो जाना होगा !
देखो, सब विश्वास जगत् के एक फूँक में उड़े जा रहे,
देखो, सब जीवन परिवर्तन की लहरों से जुड़े जा रहे।
दिवस, दिवस भी जले जा रहे रजनी के लघु अंगारों से।
और मरण भी लगे उगलने जीवन अपने उपचारों से।
भू-विस्फोट, मेघ-गर्जन, औ' सर्वनाश हमसे कह जाते,
'महामरण' में महासृजन का क्या तुम कोई तार न पाते।'
आज देह भी उपादेय है आज गरल मेरा जीवन है !
आज प्राण की विकल मूर्छना नए काव्य का आवाहन है।
आज धूल में बीज मिलाना कल के कल्पद्रुम का फल है।
आज जगत् की उथल पुथल में छिपा हमारा सुंदर कल है।

मेरा बचपन

मैं गाड़ी से उतरा ही था कोई मुझे गुदगुदा भागा !
मुझे न था मालूम कहाँ मैं आया और कहाँ पर जागा !
मुँह में दिए अँगूठा पग का मैं कोने में पड़ा हुआ था !
मैंने देखा एक अनोखा सुघड़ खिलाड़ी खड़ा हुआ था !

घुटनों के बल मुझे नचाकर 'तिक-तिक' करता आया बचपन !
आप नचाकर मुझे नचाता एक नया जग लाया बचपन !
आँख मिचौनी खेल रहे थे हम दोनों फिर यह क्या पाया !
उसे पकड़ने आगे दौड़ा वह पीछे ही कहीं विलाया !
पीछे मुड़ कर देखा मैंने देखा बचपन दूर खड़ा था !
मैं पीछे मुड़ सका न वह भी अपनी धुन में वहीं अड़ा था !
टूट गई कच्ची रस्सी सी उससे वहीं मित्रता मेरी !
किसी एक जादूगरनी ने आ जादू की लकड़ी फेरी !
अब भी आँखें ढूँढ रही हैं रोज सुबह अल्हड़पन अपना !
अब भी आँखों में हँसता है उस मीठी दुनिया का सपना !
अरे, इधर ही कहीं छिपी है सुघड़ खिलौने भरी पिटारी
जरा ढूँढ़ लाऊँ मैं ठहरो, बचपन की वह मधुर खुमारी !
अरे, कहाँ मैं भूला अपना सदा सुनहला बाग हरा सा !
कहाँ भूल आया हूँ अपना वह बचपन संगीत भरा सा !
अब तो बचपन एक कहानी दादी जहाँ रोज घुस आती !
जहाँ रात को परियाँ आकर उड़नखटोले पर ले जातीं !
चलो भूल जाओ, वह अब तो कहीं हो गया मीठा सपना !
अब तो सम्मुख रात खड़ी है अब तो जीवन सदा कलपना !
कौन दौड़ ही सका यहाँ है पीछे को अपने जीवन में ?
और पकड़ ही पाया किसने बीता जग आगे की धुन में ?

श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन

श्री वात्स्यायन (अज्ञेय) प्रसिद्ध पुरातत्व-विशारद श्री हीरानन्द जी वात्स्यायन के प्रतिभाशाली सुपुत्र हैं। गहरी अनुभूति, वेदनामयी भावनाएँ और क्रांति का उद्‌बोधन आपकी रचनाओं में मिलता है। आपकी कविताओं में तीव्र वेदना के होते हुए भी निराशा का नाम-निशान नहीं है। अतीत और वर्तमान की निराशा भरी घड़ियाँ देख लेने पर भी यह कवि पराजित नहीं हुआ है। कर्म में लगे रहो, असफलताओं से निराश मत होओ, यही इस युवक का संदेश है।

आपकी कविताओं का संग्रह भग्न-दूत के नाम से प्रकाशित हुआ है, किन्तु इस संग्रह के प्रकाशित होने के बाद जो रचनाएँ आपने लिखी हैं वे पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सरस और मार्मिक हुई हैं।

कवि के अतिरिक्त आप अच्छे कहानी और उपन्यास लिखने वाले भी हैं।

हिय-हारिल

आज थका हिय-हारिल मेरा।
इस सूखी दुनियाँ में प्रियतम
मुझ को और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से
प्लावित मेरा मानस होगा।

दृढ़ डैनों के मार थपेड़े
अखिल व्योम को वश में करता,
तुझे देखने की आशा से
अपने प्राणों में बल भरता,

ऊषा से ही उड़ता आया
पर न मिल सकी तेरी झाँकी,
साँझ समय थक चला विफल
मेरे प्राणों का हारिल पाखी;

तृषित, श्रांत, तम-भ्रान्त, और
निर्मल झंझा झोंकों से ताड़ित–
दरस-प्यास है असह, वहीं पर
किए हुए उसको अनुप्राणित!

गा उठते हैं, 'आओ! आओ!'
केकी प्रिय घन को पुकार कर
स्वागत की उत्कंठा में वे
हो उठते उद्भ्रान्त नृत्य पर!

चातक-तापस तरु पर बैठा
स्वाति बूँद में ध्यान रमाए,
स्वप्न तृप्ति का देखा करता
पी! पी! पी! की टेर लगाए,

हारिल को यह सह्य नहीं है
वह पौरुष का मदमाता है,
इस जड़ धरती को ठुकरा कर
उषा समय वह उड़ जाता है !

"बैठो, रहो, पुकारो-गाओ,
मेरा वैसा धर्म नहीं है,
मैं हारिल हूँ, बैठे रहना
मेरे कुल का कर्म नहीं है !

तुम प्रिय की अनुकंपा माँगो
मैं माँगू अपना समकक्षी,
साथ साथ उड़ सकने वाला
एक मात्र वह कंचन पक्षी ।"

यों कहता उड़ जाता हारिल
लेकर निज भुज बल का संबल,
किंतु अंत संध्या आती है—
आख़िर भुज बल है कितना बल ?

कोई गाता, किंतु सदा
मिट्टी से बँधा हुआ रहता है,
कोई नभचारी, पर पीड़ा भी
चुप होकर ही सहता है,

चातक हैं, केकी हैं, संध्या
को निराश हो सो जाते हैं,
हारिल हैं उड़ते उड़ते ही
अंत गगन में खो जाते हैं !

आज प्राण मेरे प्यासे हैं
आज थका हिय हारिल मेरा !

आज अकेले ही उसको इस
अँधियारी संध्या ने घेरा !
मुझे उतरना नहीं भूमि पर
तब इस सूने में खोऊँगा
धर्म यही है मेरे कुल का
थक कर भी मैं क्यों रोऊँगा ?
पर प्रिय, अंत समय में क्या तुम
इतना मुझे दिलासा दोगे—
जिस सूने में स्वयं लुट चला
कहीं उसी में तुम भी होगे ?

× × ×

इस सूखी दुनिया में प्रियतम
मुझको और कहाँ रस होगा ?
शुभे ! तुम्हारी स्मृति के सुख से
प्लावित मेरा मानस होगा ?

मत माँग

मूढ़ मुझ से बूँदें मत माँग
मैं वारिधि हूँ अतल रहस्यों का दानी अभिमानी,
पूछ न मेरी व्यापकता से तू चुल्लू भर पानी ?
तुझे माँगना ही है तो ये ओछी प्यासें त्याग—
मेरे खारेपन में भी मम-मय होना बस माँग !
मूढ़ मुझ से बूँदें मत माँग !
मुझ से स्निग्ध ताप मत माँग
मैं कृतांत हूँ, मेरी अगणित जिह्वाओं की ज्वाला
जग की झूठी मृदुताओं को भस्मकरी विकराल !

आशा की इस मधु विडंबना से ओ पागल, जाग !
मेरा वरद हस्त देता है—आग, आग, बस आग।
मुझ से स्निग्ध ताप मत माँग !

गा दो

कवि, एक बार फिर गा दो !
एक बार इस अंधकार में फिर आलोक दिखा दो।
अभी मुँदी हैं मेरी आंखें
पर मैं सूर्य देख आया हूँ,
आज पड़ी हैं कड़ियाँ पर मैं
कभी भुवन भर में छाया हूँ,
उस अबाध आतुरता को कवि, तुम फिर छेड़ जगा दो !
आज त्यक्त हूँ पर दिन था जब
सारा जग अंजलि में लेकर,
ईश्वर सा मैंने उसको था
एक स्वप्न पर किया निछावर !
उस उदारता को ज्वाला सा उर में पुनः जला दो !
बहुत दिनों के बाद आज कवि
मुझ में फिर कुछ जाग रहा है,
दर्प भरे अप्रतिहर स्वर में
जाने क्या कुछ माँग रहा है—
तुम प्राणों के तारों को छूकर फिर तड़पा दो !
अभी शक्ति है, कवि, इस जग को
धूली-सा अंजलि में लेकर,
बिखरा दूँ, बह जाने दूँ, या
रचूँ किसी नूतन ही लय पर !

तुम मुझको अनथक कृतित्व का भूला राग सुना दो!
कवि एक बार फिर गा दो—

बँदीगृह की खिड़की

ओ रिपु मेरे बंदीगृह की तू खिड़की मत खोल!
बाहर! स्वतंत्रता का स्पंदन!
मुझे असह उसका आवाहन!
मुझ कँगले को मत दिखला वह दुस्सह स्वप्न अमोल!
कह ले जो कुछ कहना चाहे!
ले जा याद कुछ अभी बचा है!
रिपु होकर भी मेरे आगे एक शब्द मत बोल!
बंदी हूँ मैं, मान गया हूँ!
तेरी सत्ता जान गया हूँ—
अचिर निराशा के प्याले में फिर यह विष मत घोल!
अभी दीप्त मेरी ज्वाला है!
यदपि राख ने ढँप डाला है!
उसे उड़ाने से पहले तू अपना वैभव तोल!
नहीं झूठ की वह निर्बलता!
भभक उठी अब वह विह्वलता!
खिड़की! बंधन! संभल कि तेरा आसन डाँवाडोल!
मुझको बाँधे बेड़ी कड़ियाँ!
गिन लूँ अपने सुख की घड़ियाँ!
मुझ अबाध के बँदी-गृह की तू खिड़की मत खोल!

आशंका

यह भी क्या बंधन ही है?

ध्येय मान जिसको अपनाया
मुक्त कंठ से जिसको गाया
समझा जिस को जय हुंकार
पराजय का क्रंदन ही है ?

अरमानों के दीप्त सितारे
जिसमें प्रतिपल अनगित बारे
मेरे स्वप्नों का प्रशस्त पथ
आशाहीन गगन ही है ?

तुझे देख जो अंतर रोया
कंपित विह्वलता में खोया
अटल मिलन की ज्योति न होकर
पीड़ा का स्पंदन ही है ?
यह भी क्या बंधन ही है ?

मैं

मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यंचा टूट गई है !
स्खलित हुआ है बाण, यदपि ध्वनि
दिग्दिगंत में गूँज गई है !
प्रलय-स्वर है वह, या है बस
मेरी लज्जाजनक पराजय—
या कि सफलता ! कौन कहेगा
क्या उस में है विधि का आशय !
क्या मेरे कर्मों का संचय ?
मुझ को चिंता छूट गई है।
मैं बस जानूँ मैं धनु हूँ,
जिसकी प्रत्यंचा टूट गई है।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

विहार प्रान्त को 'दिनकर' जैसे तेजस्वी कवि पर अभिमान है। वैसे तो दिनकर जी बहुत पहले से कविताएँ लिखते रहे हैं और पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं—पर पिछले कुछ वर्षों से आप का नाम अधिक चमका है।

इधर आपने देश के गौरव-पूर्ण अतीत का चित्र अपनी रचनाओं में अंकित कर भारतीय हृदयों में पौरुष जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। ग़रीबों की कष्ट-कहानी, देहातों की व्यथाभरी पुकार और पीड़ितों का हाहाकार आपकी रचनाओं में प्रतिध्वनित होने लगा है। आपकी छायावादी और रहस्यवादी रचनाएँ भी उत्कृष्ट हैं।

आपकी भावनाएँ स्पष्ट होती हैं, भाषा सरल और ओजपूर्ण होती है, और उसमें प्रवाह भी खूब रहता है। क्लिष्ट कल्पना से कविताओं को आप जटिल नहीं बनाते। आपकी कविताओं का संग्रह 'रेणुका' नामसे प्रकाशित हुआ है।

शब्द-वेध

खेल रहे हिल-मिल घाटी में
कौन शिखर का ध्यान करे
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह
फूलों का मधु-पान करे ?
लक्ष्य-वेध है कठिन; अमा का
सूचि-भेद्य तन-तोम यहाँ,
ध्वनि पर छोड़े तीर, कौन यह
शब्द-वेध संधान करे ?

'शूली ऊपर सेज पिया की
दीवानी मीरा सो ले,
अपना देश वही देखेगा—
जो अशेष बलिदान करे !
जीवन की जल गई फ़सल
तब उगे यहाँ दिल के दाने,
लहरायेगी लता, आग—
बिजली का तो सामान करे !

सबकी अलग तरी अपनी—
दो का चलना मिल साथ मना,
पार जिसे जाना हो वह
तैयार स्वयं जलयान करे !
फूल झड़े; अलि उड़े वाटिका
का मंगल-मधु स्वप्न हुआ,
दो दिन का है संग हृदय क्या
हृदयों से पहचान करे !

शिर देकर सौदा लेते हैं
जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा
फीका रंग रहा तो घर तज
क्या गैरिक-परिधान करे !
उस पद की मंजीर गूँजती;
हो नीरव-सुनसान जहाँ,
सुनना हो तो तज वसंत,
निज को पहले वीरान करे !
मणि पर है आवरण, दीप से तूफाँ में कब काम चला ?
दुर्गम पंथ, दूर जाना है, क्या पंथी अनजान करे ?
तरी खेलती रहे लहर पर यह भी एक समाँ कैसा ?
डाँड छोड़, पतवार तोड़कर तू कवि निर्भय गान करे !

अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन !
सुनना श्रवण चाहते अब तक
भेद हृदय जो जान चुका है,
बुद्धि खोजती उन्हें, जिन्हें
जीवन निज को कर दान चुका है,
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद-पद्मों के ऊपर,
बाहु पाश से दूर जिन्हें
विश्वास हृदय का मान चुका है,
जोह रहे उनका पथ दृग, जिनको पहचान गया है चिंतन,
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन श्रोता मन !
उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल,

जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल,
मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूं,
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर—
है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का?
"या कुल-कुल कल-कल ध्वनि केवल"
दृश्य, अदृश्य कौन सत् इनमें? मैं था प्राण-प्रवाह चिरंतन?
गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!
जलकर चीखे उठा वह कवि था,
साधक जो नीरव जपने में,
गाए गीत खोल मुँह क्या वह,
जो खो रहा स्वयं सपने में?
सुषमाएँ, जो खेल रही हैं
जल-थल में, गिरि-गगन-पवन में,
नयन मूँद अंतर्मुख-जीवन
खोज रहा उनको अपने में।
अंतर बहिर एक छवि देखी, आकृति कौन? कौन है दर्पण!
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन?
चाह यही छू लूँ स्वप्नों की
मग्न-कांति बढ़कर निज कर से,
इच्छा है आवरण स्नरत्त हो,
गिरे दूर अंतःश्रुति पर से।
पहुँच अगेय-गेय-संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय
फूट रहा जो सत्य, सनातन
कविर्मनीषी के स्तर-स्तर से।
मीत बनी जिनकी झाँकी अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन!
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

संकेत

पृष्ठ २२—करुणा-सरिता—इस कविता में ईश्वर की करुणा को नदी का रूपक दिया है।

पृष्ठ २२—होली—इस कविता में होली के रीति-रिवाजों के बहाने देश में फैली हुई कुरीतियों का दिग्दर्शन कराया गया है

पृष्ठ २३—प्रात-समीरन—इस कविता में प्रात-समीरन को अनेक रूपकों और उपमाओं में बाँधा है तथा प्रभात-काल के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है।

पृष्ठ २५—अस्थिर-जीवन—इस कविता में कवि ने संकेत किया है कि प्राणी हर घड़ी मौत के मुँह की ओर बढ़ा चला जा रहा है।

पृष्ठ २५—भारत-दुर्दशा—इस कविता में कवि ने भारत के अतीत गौरव और वर्तमान दुर्दशा का चित्र खींचा है।

पृष्ठ ३०—संग्राम-निन्दा—यह रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' की एक लम्बी कविता का कुछ अंश है। इसमें कवि ने संग्राम की अर्थात् हिंसा की निंदा की है।

पृष्ठ ३१—अमलतास—अमलतास एक प्रकार का वृक्ष होता है। ग्रीष्म की दोपहरी में जब सब तरह के फूल कुम्हला जाते है तब अमलतास के पीले सुमन मुसकराते नज़र आते हैं। कवि कहता है कि अमलतास बसंती रंग में रँगा हुआ है, अर्थात् अपने प्रभु बसंत की भक्ति में तल्लीन है, इसलिए उस पर घोर ग्रीष्म का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जो ईश्वर की भक्ति में लीन रहता है उसे संसार के संकट भी कष्ट नहीं पहुँचा सकते।

पृष्ठ ३२—लक्ष्मी—इस कविता में भारत के प्राचीन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार लक्ष्मी का गुण गाया गया है।

पृष्ठ ३७—हिमालय—इस कविता में पं० श्रीधर पाठक ने हिमालय के सौंदर्य का चित्र खींचा है

पृष्ठ ३७—भारत-गीत—श्रीधर पाठक ने देश का गौरव गाने के लिए कई गीत लिखे हैं जो 'भारत-गीत' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। यह गीत भी उसी पुस्तक से लिया गया है। इसमें भारत के बल-विक्रम वैभव-गौरव का वर्णन किया गया है।

पृष्ठ ३९—छात्र—इसमें छात्रों को—देश के नौजवानों को—देश के कर्णधार बनने का संदेश दिया गया है।

पृष्ठ ४०—आर्य-महिला—इस कविता में आर्य-महिला के शील श्री, सौंदर्य और शक्ति का वर्णन किया गया है।

पृष्ठ २४—दीपावली—इस कविता में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने दीपावली की आभा का वर्णन किया है। कविता की ललित शब्दावली उसकी विशेषता है।

पृष्ठ ४३—भारत के नवयुवक—इस कविता में कवि ने भारत के नवयुवकों को देश की दीन दशा को दूर करने के लिए उत्साहित किया है।

पृष्ठ ४५—शक्ति—इस कविता में कवि ने बताया है कि शक्तिवान वह है जो शक्ति का उपयोग निर्बलों की सहायता के लिए करता है, न कि अत्याचार करने को।

पृष्ठ ४६—प्रिय-प्रवास—इस कविता में उस समय का करुण चित्र खींचा है जब अक्रूर कृष्ण बलराम को नन्द के यहाँ से मथुरा ले गये थे। नन्द, यशोदा तथा संपूर्ण ब्रज-मंडल के वियोग-व्यथित हृदय का चीत्कार इस कविता में है, जो बहुत ही मार्मिक है। यह कविता श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य का अंश है।

पृष्ठ ५२—आगे—इस कविता में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने मनुष्य को सदा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जाने का आदेश दिया है। पिछली

असफलताओं और भावी बाधाओं की परवाह न करते हुए आगे बढ़ते जाना ही मनुष्य का स्वाभाविक धर्म होना चाहिए।

पृष्ठ ५३—एक फूल—यह कविता संभवतः बाबू मैथिलीशरण गुप्त के एकलौते बेटे की मृत्यु के समय उन्होंने लिखी थी। उन्होंने उस को अपने आँगन के एक फूल की उपमा दी है। कविता बहुत मार्मिक है।

पृष्ठ ५४—क्षार-पारावार—इस कविता में कवि क्षुब्ध खारे महा समुद्र को अपनी मर्यादा न छोड़ने के लिए कह रहा है। वह कहता है तू महान है। तेरे सामने पृथ्वी तुच्छ है, व्योम तेरी ऊर्मि में, आवर्त में पाताल है, तेरा वाष्प संसार में रस-वृष्टि करता है। तुझे सहिष्णुता नहीं छोड़नी चाहिए। बलशाली और महान व्यक्तियों को संयत और सौम्य होना शोभा देता है। कविता में समुद्र का वर्णन बहुत सुंदर हुआ है।

पृष्ठ ५६—निर्झर—इस कविता में निर्झर का जीवन-संगीत सुनाया गया है। वह पत्थर को भी फोड़ कर बह पड़ा है, और रास्ते की बाधाओं को लाँघता हुआ, संसार में हरियाली भरता हुआ, सब को सुख पहुँचाता हुआ प्रियतम समुद्र से मिलने बढ़ रहा है। इस कविता को मनुष्य-जीवन रूपी निर्झर के साथ भी मिलाया जा सकता है। यह भी विघ्नों के पत्थर को तोड़ कर बह पड़ा है, यह सांसारिक बाधाओं को लाँघता हुआ जगत् का मंगल करता हुआ, सब की प्यास बुझाता हुआ 'प्रियतम' में मिल जावेगा। यह रचना छायावाद की कोटि में आती है।

पृष्ठ ५९—उर्मिला की विरह-वेदना—गुप्तजी के प्रसिद्ध महा-काव्य 'साकेत' से तीन गीत लिए गए हैं। वाल्मीकि, तुलसीदास आदि महाकवियों ने राम-चरित लिखते समय लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को सर्वथा भुला दिया है। १४ वर्ष तक लक्ष्मण वन में रहे, उस समय वियोगिनी उर्मिला का क्या हाल रहा होगा यह किसी ने नहीं लिखा।

साकेत में उर्मिला का 'विरह-निवेदन' करने वाला भाग उसकी जान है। इन गीतों से पाठक इसका कुछ पता पा सकेंगे ? वर्णन बड़ा स्वाभाविक और भावुकतापूर्ण है।

पृष्ठ ६३—स्वतंत्रदेश के नवयुवक—यह अंश पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' नामक खंड काव्य से लिया गया है। 'स्वप्न' एक कथानक है जिसमें देश पर बलि जाने वाले दीवानों की कथा कही गई है। इस अंश में बताया गया है कि जब देश पर संकट आता है तो नवयुवक अपना सब कुछ उस पर न्योछावर कर देते हैं। हमारे भारतीय युवक भी ऐसी कविताओं से कुछ प्रेरणा पास सकते हैं।

पृष्ठ ६५—भूख की ज्वाला—यह कविता त्रिपाठीजी के 'पथिक' नामक खंड काव्य का एक अंश है। 'पथिक' की कथा में एक युवक का जीवन है जो पहले अपनी पत्नी को प्यार करता था फिर वह प्रकृति पर मोहित हुआ, बाद में देश की दुर्दशा देखकर उस पर बलि हो गया। इस कविता में देश की दुर्दशा का हाल है। एक तरह से हमारे भारतवर्ष की ही दशा का प्रतिरूप है। बड़ा अच्छा हो, यदि ऐसी कविताएँ पढ़ कर हमारे देश के नवयुवक भी कुछ पौरुष प्रकट करें।

पृष्ठ ६६—विश्व-छवि—यह कविता भी 'पथिक' से ली गई है। इसमें वह युवक प्रकृति सौन्दर्य को देखकर भाव-विह्वल होकर अपने उद्गार प्रकट कर रहा है।

पृष्ठ ६९—इस जीवन के घन-वन में—इस कविता में दिखाया गया है कि मनुष्य के जीवन में जब निराशा के बादल छा जाते हैं तब न जाने कौन अदृश्य आशा की किरण चमका जाता है। यह कविता दुखी और निराश हृदयों को सान्त्वना देने वाली। यह रहस्यवादी कविता है।

पृष्ठ ७०—ताजमहल—यह मुंशी अजमेरी जी की बहुत सरस और सुन्दर कविता है। प्रभात काल में, संध्या के समय, वर्षा में, शरद-

चाँदनी में, हेमंत में, ताजमहल किन विविध सुंदर रूपों में नज़र आता है, यह इस कविता में बहुत सुंदर ढंग से वर्णित है। भाव, भाषा और कल्पना सभी दृष्टियों से रचना उत्कृष्ट है।

पृष्ठ ७५—वेदना-गीत से—इस कविता में कवि कोई वेदना-गीत सुनकर विह्वल हो उठा है। वह उसे संबोधन करके अनेक प्रश्न पूछता है कि तुम कुंजों में नहीं रुकते, टेकड़ियों पर भी चढ़कर आ जाते हो और श्रोता के मस्तक को डुलवाने लगते हो। आगे जाकर कवि कहता है कि यहाँ तुम्हारा कौन ग्राहक है? बाँस, काँस, कुस तुम्हारी लहरों का उपहास करते हैं। मतलब यह है कि संसार वेदना के गीतों को नहीं सुनता—दूसरे का दुख देखने का किसी को अवकाश नहीं है। अंत में कवि कहता है कि ओ वेदना के गीत, अब हिमालय पर तुम्हारी पुकार हुई है—अब तुम कराह नहीं हुंकार बन कर आओ। और जवानी को (यानी नवयुवकों को) बलि के दरवाज़े पर चढ़ाने को लालायित करो। कविता के अंत में बलिदान की भावना जाग्रत करना 'एक भारतीय आत्मा' की अपनी विशेषता है।

पृष्ठ ७६—बलिदान—इस कविता में दिखाया गया है कि बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। बलिदान वह बीज है जिससे विजय का वृक्ष उपजता है।

पृष्ठ ७७—उन्मूलित वृक्ष—यह कविता चतुर्वेदी जी ने तब लिखी थी जब उन्हें जबलपुर से प्रकाशित होने वाले 'कर्मवीर' से अलग किया गया था। जिस पत्र को प्रारंभ करने और प्रतिष्ठित करने में उन्होंने अपना सब कुछ लगा दिया, जब उसी से उन्हें अलग होना पड़ा तो दुखी होकर यह कविता लिखी। कविता के साथ कवि की उस समय की मनो-दशा जान लेने पर पाठक उसका मर्म अच्छी तरह समझ सकेंगे।

पृष्ठ ७८—कोकिल बोलो तो—यह चतुर्वेदी जी की बहुत

सुंदर और अनुभूति प्रधान कविता है। यह कविता उन्होंने जबलपुर जेल में लिखी थी। काली रात है। काली दीवारें, चोर-डाकू, कैदियों के श्वासों का घर्घर, लोहे के दरवाज़ों का स्वर, संतरियों की अवाज़, एक, दो, तीन, चार आदि कैदियों की गिनती है। कवि की आँखें भर आती हैं। इतने ही में कोयल कूक उठी। फिर जो भावनाएँ जागी हैं—वे कविता में वर्णित हैं।

पृष्ठ ८४—गीत—यह गीत रहस्यवादी कविता का नमूना है। इसमें रहस्यवाद की प्रथम स्थिति का वर्णन है, जब कि आत्मा परमात्मा को जानने के लिए आकुल होती है। कवि इस गीत में प्रश्न करता है कि किसी ने 'उसे प्यार करने वाले' को देखा है।

पृष्ठ ८४—ओ री मानस की गहराई—यह छायावादी कविता का नमूना है। कवि ने हृदय की गहराई का प्रकृति के अनेक उपकरणों से सामंजस्य दिखाया है। तू सुप्त, शांत और शीतल है जैसे जल से पूर्ण निर्वातमेघ, नए दर्पण और नील मणि की तरह पारदर्शिका है, जिसमें विश्व की परछाईं पड़ती है। इसी प्रकार इस गीत में प्रकृति के साथ हृदय की गहराई की समानता दिखाई है।

पृष्ठ ८५—अरी वरुणा की शांत कछार—इस कविता में वरुणा के तट के प्रदेश का वर्णन है। इस के तट पर कभी ऋषि तपस्या करते थे। आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन होता था। यहीं पर भगवान बुद्ध ने तप किया था, यहीं उन्हें बोध हुआ था, इस कविता से प्राचीन भारत का एक चित्र सामने आता है।

पृष्ठ ८७—आँसू—ये पंक्तियाँ प्रसाद जी के 'आँसू' नामक काव्य से ली गई हैं। इसमें आँसुओं पर मार्मिक उक्तियाँ हैं। प्रसाद जी का यह काव्य छायावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है और हिंदी जगत में इसका बड़ा मान है।

पृष्ठ ८७—याचना—यह प्रसाद जी की प्रारंभिक रचना है।

इसमें कवि ने प्रभु से प्रार्थना की है कि विपत्ति में भी हमें धैर्य्य और साहस प्रदान करो।

पृष्ठ ९१—बादल राग—इस कविता में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने बादल की एक क्रान्तिकारी, विप्लव पैदा करने वाले व्यक्ति के रूप में कल्पना की है। इसी प्रकाश में कविता को पढ़ने से कविता का मर्म अच्छी तरह समझ में आवेगा। कविता खूब ओजस्वी और अपने ढंग की अलग है। इसे छायावादी रचना कह सकते हैं, इसमें मानव के जीवन का बादल के जीवन से सामंजस्य है।

पृष्ठ ९२—तुम और मैं—इस कविता में आत्मा और परमात्मा का संबंध वर्णित है।

पृष्ठ ९५—वृत्ति—सब कुछ खोने के बाद भी जो कोई संतोष की साँस लेता है, उस का इस कविता में वर्णन है। मेरे सब स्नेही-साथी अच्छे-बुरे चले गए हैं, चिंताएँ बाधाएँ आ पड़ी हैं, जो कुछ हो रहा है होने दिया जावे। बेबसी का यह एक चित्र है।

पृष्ठ ९५—क्या गाऊँ—इस गीत में कवि ने विश्व-शक्ति से निवेदन किया है कि जहाँ बहुत से कलाविद अपनी तानें छेड़ रहे हैं, वहाँ मैं अपने हृदय-कंठ का गीत कैसे सुनाऊँ। यहाँ पर अनेक सुरभित पुष्प कैसे चढ़ाऊँ?

पृष्ठ ९६—मेरे प्राणों में आओ—यह गीत रहस्यवाद की रचना है। कवि अरूप को अपने प्राणों में बुला रहा है। वह उसके हृदय के तारों को बजा जाने की, उससे उर के सीपी पर स्वाति-जल बरसाने की, उसके मुक्ताओं में लास-रंग-रस सरसाने की प्रार्थना करता है, और कहता है, मेरे स्वर की अनल-शिखा से संपूर्ण विश्व को जलाकर एक नवीन रूप-विभा के दर्शन करो।

पृष्ठ ९७—तेरे चरणों पर—यह गीत भी रहस्यवादी रचना है। इसमें परमात्मा को माँ कहकर संबोधन किया है। उसके चरणों में

अपने कर्मों को अर्पित किया है, और उससे मृत्यु को हँस-हँस कर ले सकने का वरदान चाहा है।

पृष्ठ ९८—आवाहन—इस कविता में निराला जी ने श्यामा—महाकाली—से एक बार फिर अपना विध्वंस का नाच नाचने की प्रार्थना की है। कविता प्राणों में स्फूर्ति भरने वाली है।

पृष्ठ १००—नौका-विहार—श्री सुमित्रानंदन पंत वहाँ के राज-परिवार के साथ कालाकांकर में रहते हैं। गंगा के किनारे पर राज-भवन है। उसी गंगा में नौका-विहार का यह एक चित्र है। भावनाएँ यथार्थ हैं, शब्दावली बहुत ललित है, छंद बहुत प्यारा है। कविता पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है जैसे वास्तव में लहरों पर नाव चल रही है। कविता के अंत में इस नौका-विहार से भव-सागर पर चलने वाली जीवन-नौका के आवागमन का मिलान किया है। इसलिए यह कविता भी छायावादी हो गई है।

पृष्ठ १०२—मानव—कवि ने 'मानव' को संबोधन कर लिखा है कि तुम्हीं मेरे गान हो, हृदय का स्पंदन हो। आँखों की कांत कनी, सुख की स्मिति और करुणा के आँसू हो। तात्पर्य यह है कि हर्ष-विमर्ष, सुख-दुख, स्मिति-आह, ये मानव के स्वाभाविक गुण हैं। और मानव से ही इन गुणों को प्रकृति ने सीखा है। भावनाओं का संसार मानव की सृष्टि है। कवि मानव से माँगता है कि वह भावना-जगत् में नए नए हृदयों का मधु पीकर नई-नई ध्वनियों में गावे, कोमल मानवीय भावनाओं के मधु में घुल जावे।

पृष्ठ १०३—परिवर्तन—यह पंत जी की 'पल्लव' नाम की पुस्तक की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता का कुछ अंश है। इस कविता में दिखाया गया है कि संसार में सदा परिवर्तन का चक्र घूमता रहता है। परिवर्तन की शक्ति दुर्जेय है, उससे न इन्द्र बचता है न दुर्बल मानव,

न पर्वत, न रजकण। इस कविता की भाषा भावनाओं के अनुरूप है। यह कविता पंतजी की उत्कृष्टतम रचनाओं में से एक है।

पृष्ठ १०६—सांध्य वंदना—इस गीत में कवि ने भगवान से संसार की कल्याण-कामना की है। वह कहता है कि तुम अपने करुणामय कर-पल्लव से विश्व-नीड़ पर छाया करो।

पृष्ठ १०७—सुख-दुख—इस कविता में कवि ने बताया है कि संसार में सुखदुख, फूल-शूल दोनों का अस्तित्व है और रहेगा।

पृष्ठ १०८—लिख विरह के गान—यह रहस्यवादी रचना है। एक विरह-व्यथित आत्मा कवि से विरह का गीत लिखने को कह रही है। वह कवि से कहती है कि तू उस निर्गुण को सगुण बता, नर का पुरुषार्थ अलख का अभिषेक करने में ही है। कई प्रकार से कवि को अपनी वेदना सुनाकर अंत में वह कहती है कि साँझ आगई है पर उनका राज-रथ नहीं आया है, हे कवि तू विरह के गान लिख। सारी कविता बहुत ही मधुर और भावगर्भित है।

पृष्ठ ११०—कुहू की बात—कुहू निशा यानी अमावस्या की काली रात के समय में कवि लिख रहा है। कुहू को हम माया का अंधकार मान लें तो सारी कविता एक आध्यात्मिक अर्थ से भर जाती है। संपूर्ण विश्व माया के अंधकार में पड़ा हुआ है, यहाँ ज्ञान की प्रकाश-किरण कभी-कभी चमकती है।

पृष्ठ १११—विप्लव गायन—यह नवीन जी की अत्यन्त ओजपूर्ण रचना है। इसके पहले अंश में कवि को ऐसा गीत गाने के लिए कहा जा रहा है जिससे संसार में उथल-पुथल मच जावे। दूसरे हिस्से में कवि अपना गीत सुनाता है, जिसकी पंक्ति-पंक्ति में चिनगारी है।

पृष्ठ ११४—रुन-झुन-झुन—वात्सल्य रस की यह अनूठी

रचना है उससे अधिक अर्थ-गांभीर्य है। हिंदी की सुंदरतम रचनाओं में से एक यह है।

पृष्ठ ११६—राखी की सुध—कवि जेल में है। प्रतिवर्ष की भाँति इस सावन की पूनम को बहन राखी के तार लेकर नहीं आई। उसकी याद में कवि व्याकुल हो उठा है। उस व्याकुलता की घड़ियों में यह कविता लिखी गई है।

पृष्ठ ११७—शिखर पर—इस कविता में बलि-पथ पर जाने वाले प्राणी को बढ़ चलने का आदेश दिया गया है। संसार के माया मोह से बचकर ऊपर उस शिखर पर चढ़ और माँ की माला में अपना शीश पिरो दे, यही कवि कहता है।

पृष्ठ १२०—विश्व-रूप—यह मिलिंद जी की छायावादी रचनाओं में से एक है। कवि अपने 'सुंदर' से कहता है कि तुम ऐसे 'विश्व-रूप' बन कर आओ जो सीमाओं का बंदी न बने। ससीम से असीम बनकर आने का अनुरोध किया जा रहा है।

पृष्ठ १२१—वैभव—इस कविता में दिखाया गया है कि किस तरह गरीबों का रक्त चूस कर धनपति मौज उड़ा रहे हैं और किस तरह पीड़ितों शोषितों के हृदय असंतोष की आग में जल रहे हैं।

पृष्ठ १२४—कुछ का कुछ—इस कविता में दिखाया गया है, कि कलाकार को अपनी अभिव्यक्ति पर कोई अधिकार नहीं है, वह भक्ति का गान गाने चलता है और प्रेम की तान छिड़ पड़ती है, महानद और महासिंधु का मिलन गान लिखने चलता है पर विरह-गीत लिख डालता है, नीलाकाश अंकित करना चाहता है पर आँखों का तारा खींच बैठता है।

पृष्ठ १२५—तीन कलाधर—इस कविता के तीन भाग हैं। पहला है अंधा गायक, दूसरा है मूक चित्रकार, तीसरा है बधिर कवि।

'अंधा गायक' में कवि बतलाता है कि वह अंतर की आँखों से

अंतःपुर में प्रियतम की झाँकी पाता है। इस अंतःपुर में वह स्वर की डोर पकड़ कर उतरता है। त्रिभुवन का आलोक उसके अंतर में भर जाता है इस लिए बाहरी संसार उसके लिए केवल अंधकार मात्र रह जाता है।

मूक चित्रकार में कवि ने बताया है कि मौन ही चित्रकार की भाषा है, जिसको मौन भाषा में भुवन नायक उषा, तारिका, इन्द्र-धनुष आदि प्राकृतिक सौंदर्य में घोलता रहता है। चित्रकार त्रिभुवन की भाषा को मूक बना कर रख लेता है।

बधिर कवि में कवि बताता है कि कवि अपनी साधना में तल्लीन है। उसे विधि-निषेध के बंधन, जग के व्यंग्य, उपहास, ताने सुनने का अवकाश नहीं है। वह बहरा है, उसे संसार की समालोचना नहीं सुनाई देती। वह अपनी साधना में निरत है।

पृष्ठ १२८—अनुरोध—यह रहस्यवादी कविता है। इसमें सुंदरी के रूप में परमात्मा की कल्पना की गई है उससे अपने रूप की ज्वाला में अशिव, असत्य, असुंदर को जला कर भस्म कर देने का अनुरोध किया गया है।

पृष्ठ १२८—जीवन-दीप—इस कविता में लघुतम दीपक में परम प्रकाश की, आत्मा में परमात्मा की कल्पना की गई है।

पृष्ठ १२९—जागो—यह मिलिंद जी के 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक का एक गीत है। इसमें पराधीनता में सुख अनुभव करने वालों को चेतावनी दी गई है।

पृष्ठ १३१—रश्मि—यह कविता श्रीमती महादेवी वर्मा के 'रश्मि' नामक काव्यसंग्रह का एक गीत है। इसमें बताया गया है कि उस महाप्रकाश की 'एक किरण' के आगमन से ही विश्व स्पंदित, प्रकाशित और मुकुलित हो उठता है। अर्थात् परमात्मा का आभास पाते ही साधक की आँखों में विश्व हास-उल्लासमय हो जाता है।

पृष्ठ १३२—मुरझाया फूल—यह महादेवी जी की एक प्रारंभिक रचना है। इसमें मुरझाए हुए फूल के साथ अपने जीवन की तुलना की गई है। फूल को जिस तरह स्वार्थियों ने मधु, सौरभ लेकर फेंक दिया और अब उस पर कोई नहीं रोता, इसी तरह हमारे जीवन पर भी कोई नहीं रोएगा।

पृष्ठ १३३—गा लेने दो—कवयित्री ने इसमें गान की महिमा गाई है। चातक के गान से बादल घिर आए, फूलों ने अपनी ओस और मुसकान का गान गाया तो सारा पथ नंदन वन बन गया। दीपक ने ज्वाला का आलिंगन करके गाया तो दिवस उस पर न्यौछावर हो गया। कवयित्री कहती है मैं अपने गान से मरु को भी उर्वर कर दूँ। यह गान आत्म-निवेदन ही है। आत्म-निवेदन में इतनी शक्ति है।

पृष्ठ १३४—मैं—इस कविता में महादेवी जी ने दीपक के रूपक में जीवन को बाँधा है। दीपक की तरह अभिराम जलते रहना ही तो जीवन की साधना है। ज्वाला न हो तो जैसे दीपक कुछ नहीं उसी तरह जीवन भी कुछ नहीं, एक राख का ढेर है। यह छायावादी रचना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

पृष्ठ १३५—मेरे दीपक जल—इस कविता में भी कवयित्री ने अपने जीवन को दीपक मान कर उससे जलते रहने की प्रार्थना की है। जल कर जगत् को अभिशाप न दे बल्कि धूप बन कर सौरभ फैला, मोम सा अपना तन घुला और प्रकाश दे। दुख पाकर भी संसार के प्रति कटु न बन।

पृष्ठ १३७—तुम मुझ में प्रिय!—यह रहस्यवादी कविता है। इसमें आत्मा और परमात्मा की एक रूपता की कल्पना है। जिसने आत्मा और परमात्मा का संबंध समझ लिया है, जो अपनी पुतलियों में प्रियतम की छवि और प्राणों में उसकी स्मृति को संचित कर सका है उसे संसार में कुछ भी संचय करना नहीं है। जो अरुण उषा में

उसका मुख देखता है, और रात्रि को उसकी परछाई समझता है, उसे सृष्टि और प्रलय जाग्रति और नींद के समान हैं। इसी प्रकार सारी कविता में आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता बतलाई है। काया और छाया में प्रेयसी और प्रियतम का अभिनय करना व्यर्थ है।

पृष्ठ १३८—आ वसंत रजनी—इस कविता में वसंत की रजनी का एक स्त्री के रूप में चित्र खींचा गया है। वेणी को तारों के फूलों से सजाना, शशि को शीश फूल की तरह धारण करना, बादलों का घूँघट करना आदि ऐसी ही कल्पनाएँ सारी कविता में की गई हैं जिससे एक सुंदर नारी की तस्वीर खिंच जाती है।

पृष्ठ १४१—प्रयाणोन्मुखी—यह कविता हिंदू-समाज के गृहस्थ का एक करुण चित्र है। पत्नी जो संसार से विदा होने वाली है, अंतिम आत्म-निवेदन कर रही है। पत्नी को अब भी अपने अधूरे कामों की थोड़ी सी चिंता है, उसे अपने पति को सुख और शांति पहुँचाने की अब भी साधना है। वह चाहती है पति फिर विवाह करे और वे दोनों पति-पत्नी प्रीतिपूर्वक रहें। वर्णन स्वाभाविक और मार्मिक है।

पृष्ठ १४३—घट—यह रहस्यवादी कविता है। इसमें आत्मा को एक घड़े का रूपक दिया है। जिस प्रकार घड़ा कुएँ में बार बार डाला और खींचा जाता है उसी तरह जीव का आगमन होता है। इस संसार रूपी अंधकूप में वह बार-बार इधर उधर टकराता है।

पृष्ठ १४४—शंखनाद—इस कविता में कवि ने ईश्वर की क्रांति-कारिणी शक्ति को जाग्रत किया है। कवि को मृतशांति असह्य हो उठी है, वह प्रलय का आह्वान कर रहा है।

पृष्ठ १४८—यात्री—इस कविता में संसार-पथ पर चलने वाले यात्री की दुविधा का वर्णन है। पहले वह सोचता है, घना जंगल है झाड़-झंखाड़ हैं, कहीं गर्त्त हैं, कहीं पहाड़ हैं, इन पर चढ़ना तो बड़ा कठिन है, पर दूसरे ही क्षण उसे याद आता है कि ये सारी बाधाएँ

पार करके लक्ष्य तक पहुँचना ही पड़ेगा। यही उसका धर्म है। इस कविता में सदा कर्म-रत रहने का आदेश है।

पृष्ठ १५०—हिन्दू—इस कविता में हिन्दू की वर्तमान पतित अवस्था, दुर्बलता, मोहान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या अभिमान का ख़ाका खींचा है और उसे आत्म-निर्भर होकर अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने का आदेश दिया है।

पृष्ठ १५३—दीवानों का संसार—जिन्हें लोग दीवाने कहते हैं वे वास्तव में परमहंस और आत्म-ज्ञानी होते हैं। वे संसार के सुख-दुख समान रूप से ग्रहण करते हैं। बिना राग-विराग के संसार के सभी कार्य करते हुए यहाँ से चले जाते हैं। ऐसे ही दीवाने का रूप वर्मा जी ने इस कविता में दिखाया है।

पृष्ठ १५४—मेरी आग—इस कविता में सर्वस्व का बलिदान करने वाले क्रान्ति देवी के उपासक के उद्‌गार व्यक्त किए हैं। जो बलि-पथ का यात्री है वह अपने सारे अरमान, आशा-अभिलाषाओं की की आहुति दे डालता है। यहाँ तक वह जीवन की भी अवहेलना करता है। ऐसे ही लोग क्रान्ति की प्रलयकरी ज्वाला जगाते हैं।

पृष्ठ १५७—अशांत—इस कविता में एक निराश और अशांत हृदय का चित्र है। अशांत हृदय सब वस्तुओं में दुख की छाया देखता है, लताओं में साँप छिपे हैं, शांति की किरणों के पीछे अशांति का अंधकार छिपा है, हास्य में रुदन, प्रेम में घृणा, दया में रोष, पुण्य में दोष उसे नज़र आता है। ऐसी अशांत हृदय की मनस्थिति होती।

पृष्ठ १५८—ये गजरे तारों वाले—इस कविता में कवि ने एक मालिन के रूप में रात्रि का चित्र खींचा है। रजनी-बाला तारों के गजरे लेकर संसार में बेचने निकली है। कवि कहता है कि यदि प्रभात तक कोई इनका खरीदने वाला न मिले तो इन्हें फूलों पर ओस बना कर बिखरा देना।

पृष्ठ १५९—यह तुम्हारा हास आया—निराशा के क्षणों में भी किसी 'अज्ञात' का सहारा प्राणी को मिलता रहता है। जिस समय आँखों से आँसू बह पड़ते हैं उस समय भी तीर की तरह रवि-रश्मि का उल्लास आ पहुँचता है। कोकिल हृदय को चीर कर रोती है, प्राणी के हृदय में उसकी प्रतिध्वनि समा जाती है। अर्थात् कई दुख भरी भावनाएँ उसे घेर लेती हैं, उससे भी प्राणी उसके (ईश्वर के) अधिक निकट होता जाता है।

पृष्ठ १६०—किरण-कण—इस कविता में जीवन की एक दीपक की किरण के रूप में तस्वीर खींची गई है। इस किरण में प्रकाश है लेकिन जलन भी है, सिद्धि मिल चुकी है फिर भी साधना समाप्त नहीं हुई है। जीवन तो एक अविरत साधना है, अविराम जलते रहना है।

देखने में छोटी सी किरण है लेकिन वह संपूर्ण विश्व में फैले हुए अन्धकार को दूर करने का प्रण लेकर आई है। लघु होते हुए भी महान है।

यह किरण पतंगे को मरना सिखाती है, सूर्य का संदेश रात्रि के समय सुनाती है। इतना महान् जिसका व्यक्तित्व है, वह स्नेह समाप्त हो जाने पर उसी में समा जाती है जिससे पैदा हुई थी। यही तो आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध है।

पृष्ठ १६०—चन्द्र-किरण—आकाश से पृथ्वी पर उतरने वाली चन्द्र-किरण के प्रति यह उक्ति है। कवि कहता है जिस आकाश में नक्षत्र है, आलोक है, उसे छोड़कर मलीन, पीड़ा, रुदन और शोक से भरी मेरी पृथ्वी पर क्यों आई है? कवि ने एक कोमल भावना को छुआ है।

पृष्ठ १६१—आँसू—इस कविता में आँसू पर उक्तियाँ हैं। अंत में कवि और वैज्ञानिक की दृष्टि का अंतर भी दिखाया गया है। कवि जिसे आँसू कहता है—वह वैज्ञानिक के लिए जल है। कवि जिस प्रकार

इस एक बूँद पानी में पीड़ा का सागर लहराता हुआ देखता है वैसा वैज्ञानिक नहीं देखता। कवि कहता है कि हे आँसू तुम आँसू ही बने रहो प्रकृति-तत्त्व के जल न बनो।

पृष्ठ १६१—रहस्य—इस कविता में जीवन का रहस्य दिखाया गया है कि धीरे-धीरे यह जीर्णता—मृत्यु-की ओर जा रहा है। जो रेशम-सा दिखाई देता है वह अंत में जीर्ण और काला हो जावेगा।

पृष्ठ १६२—बन्धन-मुक्ति—इसमें कवि ने एक पिंजरे के बंदी पक्षी की मुक्ति का चित्र खींचा है। कवि ने मनुष्य को पक्षी का रूपक दिया है। इसमें बंधन से मुक्ति पाकर संसार में स्वच्छन्द विहार करने का आदेश है।

पृष्ठ १६४—याचना—यह ईश्वर की प्रार्थना है। कवि विपत्तियों में न घबड़ाने और विपरीत परिस्थिति में भी कार्य करते रहने की शक्ति की याचना करता है।

पृष्ठ १६४—पीड़ा का पर्दा—यह कविता एक अत्यन्त पीड़ित मानव के हृदय की पुकार है। वह अपनी पत्नी से कह रहा है कि तुम मुझे संसार के आगे अपना दुख रोने के लिए मत कहो। यहाँ पर कुछ लोगों ने सम्पूर्ण धन-संपत्ति पर अधिकार कर लिया है। वह स्वार्थ से अंधा है। उसके आगे रोने-धोने से कुछ न होगा। उसके साथ संग्राम करना आवश्यक है।

पृष्ठ १६८—रक्षा-बन्धन—इस कविता में देश के लिए बलि होने को प्रस्तुत नवयुवक की अपनी बहन के प्रति उक्ति है। वह बहन से कह रहा है कि आज तू मुझे राखी बांध कर अंतिम बार प्यार कर ले और आशीर्वाद दे कि मैं समर में रिपु की तलवार से डरूँ नहीं। यदि मैं मर जाऊँ तो तू दुखी न होना, बल्कि मेरे व्रत को दूसरों के दिलों में जगाना।

पृष्ठ १७०—जिज्ञासा—यह प्रेमी जी के 'अनंत के पथ पर'

नामक (रहस्यवादी) काव्य के कुछ छंद हैं। माया के आवरण से दुविधा में पड़ी हुई आत्मा में संसार की वस्तुओं को देखकर तरह तरह के प्रश्न उठते हैं। उन्हीं का वर्णन इस कविता में है। कोई 'अज्ञात' उसे बेचैन कर रहा है, पर वह उसे जान नहीं पाती। यह अर्ध जाग्रति की अवस्था है।

पृष्ठ १७२—गीत—यह गीत संसार के सभी कष्टों को सहते हुए जीवन-पथ पर चलते रहने को ही सब से बड़ी बहादुरी समझने का आदेश देता है।

पृष्ठ १७२—उपेक्षित दीप—इस कविता में कवि ने दुखी और उपेक्षित हृदय को उपेक्षित दीपक का रूपक दिया है।

पृष्ठ १७३—मैं—इसमें कवि ने अपनी विनम्रता प्रदर्शित की है। वह कहता है मैं बहुत बड़ा व्यक्ति नहीं हूँ संसार के सुख-दुख से घिरा हुआ साधारण प्राणी हूँ।

पृष्ठ १७३—काली—इसमें कवि ने क्रांतिकारिणी शक्ति का आह्वान किया है।

पृष्ठ १७५—घायल—इस कविता में कवि ने क्रांति के कारण पर प्रकाश डाला है। संसार में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन की जो विषमता है वही क्रांति का कारण है।

पृष्ठ १७८—आत्म-परिचय—इस कविता में कवि ने अपना परिचय दिया है। उसने संपूर्ण संसार के जीवन का भार अपने ऊपर उठाया हुआ है फिर भी वह जीवन से प्यार करता है।

पृष्ठ १७९—चल बसी संध्या गगन से—यह कविता बच्चन जी की 'निशा निमंत्रण' पुस्तक का एक गीत है। यह उस समय का चित्र है, जब कि संध्या जाती है और रात आनेवाली है। बुलबुल पाटलों से, और षट्पद शतदलों से कुछ कह रहे हैं—यानी विदाई ले

रहे हैं। इस विदाई के करुण वातावरण में कवि की आँखों से आँसू भी गिर पड़ते हैं।

पृष्ठ १८०—अंधकार बढ़ता जाता है—यह कविता रात्रि का एक चित्र है। अंधकार बढ़ रहा है, इस अंधेरे में सभी पास-पास हुए जा रहे हैं—पर एक ताड़ अलग दिखाई दे रहा है, दूरी पर एक दीप जल रहा है, और साथियों से पिछड़ा हुआ कोई पथिक गा रहा है। ताड़ के वृक्ष, एकाकी दीप और बिछुड़े पथिक के रूप में कवि अपने एकाकी जीवन की कसक व्यक्त कर रहा है।

पृष्ठ १८०—दिन जल्दी जल्दी ढलता है—यह चित्र उस समय का है, जब संध्या आने वाली है जिस समय थका हुआ पंथी भी जल्दी ही पहुँचने के लिए द्रुतगति से कदम उठाता है, जब बच्चों की याद में शीघ्रता से पक्षी नीड़ों की ओर उड़ चले हैं। कवि इसलिए उदास है कि उससे मिलने के लिए कोई भी विकल नहीं है। वह बिलकुल एकाकी है।

पृष्ठ १८१—बीत चली संध्या की वेला—यह संध्या के समाप्त होने के समय का एक चित्र है। जिस समय संध्या के सघन की अरुणिमा समाप्त होने वाली है और नभ के धीमे-धीमे टिमटिमाने वाले तारे रात्रि के आगमन की कामना कर रहे हैं, एक पक्षी अपने भूले हुए नीड़ को इधर-उधर उड़ कर खोज रहा है। कवि ने पक्षी के रूप में अपना ही चित्र खींचा है।

पृष्ठ १८२—साथी घर-घर आज दिवाली—कवि दिवाली की रात्रि का वर्णन अपने 'अज्ञात' साथी से कर रहा है। संसार में सर्वत्र आनंद-उत्साह है, पर वह दुखी है। उसका दर काला है, दीवारें काली हैं। आकाश में जो नक्षत्र चमक रहे हैं, उसकी तो वही दीप-मालिका है।

पृष्ठ १८२—कहते हैं तारे गाते हैं—यह भी रात्रि का चित्र

है। कवि कहता है कि सुना जाता है कि तारे गाते हैं, पर उसे तो कभी वह गीत सुनाई नहीं दिया। स्वर्ग में भले ही वह गीत सुनाई देते हों, पृथ्वी में तो तारों के आँसू ही ओस के रूप में नज़र आते हैं। जो ऊपर रहने वाले हैं, देवता हैं, उनके लिए गायन है और जो मानव हैं उनके लिए रोदन है।

पृष्ठ १८३—मैंने खेल किया जीवन से—इस कविता में कवि ने इस बात पर पश्चाताप किया है कि उसने अमूर्त के स्थान पर मूर्त की पूजा की, सत्य के स्थान पर स्वप्नों में फँसा रहा।

पृष्ठ १८५—विजयादशमी—इस कविता में कवयित्री जी ने पहले उस काल का चित्र खींचा है, जब राम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी, उस समय की भारतीय वीरता और आत्म-समान की झाँकी दिखा कर बाद में वर्तमान पराधीन और अपमानित जीवन पर दुख प्रकट किया है। अंत में कहा है कि यदि देश का पुरुषवर्ग वीरता प्रदर्शित कर देश के दुखों को नहीं मिटाता तो हम स्त्रियों को आगे बढ़ना चाहिए।

पृष्ठ १८६—जाने दे—इस कविता में कवयित्री ने अपने आप को भक्तिन के रूप में उपस्थित किया है जिसे पुजारी भगवान के मंदिर में जाने से रोकता है।

पृष्ठ १८७—इसका रोना—यह कविता माँ के हृदय का एक चित्र है। उसे अपनी बच्ची का रोना भी कितना मधुर और अर्थपूर्ण जान पड़ता है।

पृष्ठ १८८—पुरस्कार कैसा?—यह कविता सुभद्राकुमारी जी ने झाँसी में हुए हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर उन्हें जो ५००) का सेकसरिया पुरस्कार दिया गया था, उसे लेते समय, पढ़ी थी। इस कविता में भी उनकी राष्ट्रीय भावनाओं की स्पष्ट झाँकी है।

पृष्ठ १९०—विजया-दशमी—इस कविता में कवि ने विजया-

दशमी के दिन जाग्रत होने वाली भारत के प्राचीन गौरव की स्मृति से उत्पन्न होने वाली बेचैनी प्रकट की है और वर्तमान निराशाजनक और पराधीन स्थिति दिखाई है।

पृष्ठ १६१—आज जगत् की उथल-पुथल में—इस समय संसार में जो उथल-पुथल मची हुई है उसका वर्णन इस कविता में है तथा सुंदर भविष्य की कल्पना की गई है।

पृष्ठ १६२—मेरा बचपन—इस कविता में कवि अपनी चिंताओं, दुःखों और कर्मों से अपरिचित सुनहले बचपन की याद में आह भर रहा है।

पृष्ठ १६५—हियहारिल—हारिल नामक एक पक्षी, सुना जाता है, एक बार उड़ने पर फिर रुकता नहीं है, उड़ते-उड़ते प्राण गँवा देता है। कवि ने अपने हृदय की उसी हारिल पक्षी के रूप में कल्पना की है। कवि कहता है कि तुम्हें देखने की आशा में मेरा हिय-हारिल बड़े सबेरे से उड़ पड़ा है, संध्या हो गई है, वह थक गया है। तुम्हारे दर्शन फिर भी नहीं हुए, फिर भी, थक जाने पर भी, वह पृथ्वी पर नहीं उतरेगा, इसी सूने में खो जावेगा।

पृष्ठ १६७—मत माँग—कवि इस कविता में अपने विराट व्यक्तित्व की झाँकी दिखाता है। संसार उससे छोटी चीज़ें क्यों माँगे, वह तो महा समुद्र है, कृतांत है। वह संसार को अपने में लीन कर लेगा या सांसारिक माया-मोह का नाश करने वाली विकराल ज्वाला देगा।

पृष्ठ १६८—गा दो—कवि इस कविता में अपने अंतर के कवि से ऐसा गीत गाने को कह रहा है जिससे वह अपनी वास्तविक शक्ति को अनुभव करे, बंधन तोड़ कर कर्म-रत हो।

पृष्ठ १६६—बंदीगृह की खिड़की—किसी अत्याचारी के द्वारा बंदी किए हुए मनुष्य के अत्यंत ही वेदना व्यथित हृदय का यह

चित्र है। वह बंदी बनाने वाले से कह रहा है, कि यद्यपि देखने में मेरे हृदय की ज्वाला राख होगई है पर वह भीतर भीतर जल रही है। वह तेरे वैभव को भस्मसात् कर देगी इसलिए तू मेरे बंदीगृह को खिड़की मत खोल। बाहर की स्वतंत्रता का स्पंदन देखकर फिर यह आग भड़क उठेगी।

पृष्ठ १९९—आशंका—कवि का हृदय इस कविता में आशंका प्रकट कर रहा है कि उसने अपने जीवन का जो ध्येय बनाया, उसके जो स्वप्न हैं, क्या वे भी बंधन तो नहीं हैं ! वे भी असत्य तो नहीं हैं।

पृष्ठ २००—मैं—यह कविता एक पराजित वीर का आत्म-परिचय है, जो पराजित तो हो गया पर उसकी शक्ति का सिक्का सभी ने माना है।

पृष्ठ २०२—शब्द-बेध—जीवन की लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सिर देकर प्रेम का सौदा करने वाले दीवानों की आवश्यकता है, इस कविता में यही व्यक्त किया गया है।

पृष्ठ २०३—अगेय की ओर—इस कविता में कवि की उस रहस्यवादी स्थिति का वर्णन है, जब वह इस संसार के माया-मोह से परे उस अगेय संगीत को सुनता है, जो संगीत संसार के कण-कण में में चिरकाल से बज रहा है।

Complicated UTI	...d.	20...
Mild-Moderate RTI	500mg b.d.	200mg
Severe RTI	500-750mg b.d.	200mg
Bone and Joint infections	500-750mg b.d.	200mg
GI infections	250mg b.d.	100mg
Skin, Skin structure infections	500-750 mg b.d.	200mg
Gonorrhoea	250mg single dose	100mg
Other severe infections	500-750mg b.d.	200mg

Note : For patients with renal impairment whose creatinine clearance is less than 20m

हिंदी प्रभाकर की सर्वोत्तम सहायक पुस्त

आलोचना-समुच्चय की प्रश्नोत्तरी

(ले०—श्री विश्वंभर 'मानव' एम. ए.)

इसमें कबीर, सूर, जायसी, तुलसीदास, मीरा, केशव, बि भूषण, हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण और जयशंकर प्रसाद की जी और साहित्यिक विशेषताओं पर परीक्षोपयोगी आलोचनात प्रश्नोत्तर दिए गए हैं। प्रसंगवश छायावाद, रहस्यवाद, मुक्तक, प्र एवं महाकाव्य के लक्षणों की चर्चा भी की गई है। आलोच समुच्चय पुस्तक में आए हुए कठिन पद्यों के अर्थ भी परिशि दिए गए हैं। मूल्य १॥)

हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रश्नोत्तरी

[श्री गोपालशरण व्यास साहित्य-रत्न]

इसमें हिन्दी साहित्य का सारा इतिहास प्रश्न और उत्तर रूप में बड़ी सुगमता से समझाया गया है। परीक्षा में पूछे ज वाले प्रायः सभी प्रश्न इसमें आ गये हैं। मू० ॥।-)॥

अपठित हिन्दी और रचना-तत्त्व

[प्रो० रामकृष्ण शुक्ल एम. ए०]

प्रभाकर परीक्षा के नये पाठ्य-क्रम के अनुसार इस पुस्तक अपठित गद्य और पद्य की व्याख्या, सार-कथन, शीर्षक, वाच्या शैली, भावात्मक, विचारात्मक और आख्यानात्मक-रचन निबन्ध-रचना, संवाद-रचना, पत्र-लेखन, सार-लेखन और विस्तार लेखन आदि रचना के सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस विषय की हिन्दी में यही एक मौलिक पुस्तक है। मूल्य १